लेखक परिचय

डॉ. हरिओम

जीन्द (हरियाणा) के ग्रामीण आंचल में 10 जनवरी 1959 को जन्में तथा कृषक परिवार की पृष्ठभूमि में आरम्भिक शिक्षा के बाद पी. एच.डी. (सस्य विज्ञान) की डिग्री चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार से प्राप्त की। डिग्री हेतू किए गए संकर धान पर उत्तम शोध कार्य के लिए डॉ. वी.डी. कश्यप स्वर्ण पदक से सम्मानित।

हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के सस्य विज्ञान विभाग में वरिष्ठ वैज्ञानिक के पद पर कार्यरत्त हैं। पिछले 24 वर्षों से मुख्य रूप से धान-गेहूं फसल चक्र, फसल प्रणाली व कृषि प्रणाली के उत्पादन सम्बन्धी शोध कार्य में संलग्न हैं। साथ ही देश एवं विदेश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में 150 से अधिक शोध पत्रों/लेखों और 6 पुस्तकों/बुलेटिन के लेखन में योगदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सेमीनार 'नेचुरल रिसोर्स मैनेजमेंट' में श्रेष्ठ शोध पत्र प्रस्तुति हेतू सम्मानित।

आध्यात्मिक पुनर्जन्म के लिए 14 नवम्बर 1986 को राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज के चरण कमलों में पहुंचे और दीक्षा ग्रहण की। सतगुरू की आज्ञा से 1 फरवरी 1998 से आध्यात्मिक कार्य के मिशन में संलग्न हैं। अध्यात्म को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया और 18 आध्यात्मिक पुस्तकों की रचना की।

मनुष्य के लिए अध्यात्म जरूरी क्यों ?

(मानसिक, धार्मिक व सामाजिक विषयों पर आध्यात्मिक चिंतन)

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र (हरियाणा)

मनुष्य के लिए अध्यात्म जरूरी क्यों ?

सर्वाधिकार सुरक्षित

जून 2007

डा० हरिओम
वरिष्ठ वैज्ञानिक

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र
(हरियाणा)

विषय - वस्तु

क्रम सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य	1
2.	कर्म से निवृति अध्यात्म नहीं	5
3.	प्रेम के बिना ज्ञान अधूरा	10
4.	मन ही ईश्वर मन ही शैतान	14
5.	पूर्ण समर्पण के बिना सफलता सम्भव नहीं	17
6.	नाम की प्राप्ति और कुण्डलीनी जागरण	20
7.	अध्यात्म में गुरू का महत्त्व	23
8.	व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ क्यों होना चाहता है?	26
9.	मुक्ति का अर्थ एवं लक्ष्य	30
10.	अध्यात्म हर जरूरत की पूर्ति करता है	34
11.	राधास्वामी योग और मुक्ति मार्ग	38
12.	राधास्वामी योग की श्रेष्ठता	42
13.	गीता मार्ग और राधास्वामी योग में अन्तर	45
14.	जिज्ञासुओं के लिए प्रश्न	51
15.	पुस्तक सूची	52

राधास्वामी।

राधास्वामी दयाल की दया राधास्वामी सहाय।

राधास्वामी।

समर्पित

राधास्वामी दयाल परम् संत

सतगुरू ताराचन्द जी महाराज

के चरण कमलों में।

आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज की प्रेरणा से हमने संकल्प लिया है कि आध्यात्मिक कार्यों के लिए किसी से भी पैसों की सेवा नहीं ली जाएगी और किसी आश्रम की स्थापना नहीं की जाएगी क्योंकि मेरा विश्वास है कि यदि कोई आध्यात्मिक सूर्य उदय होना चाहता है तो वह इतना सक्षम है कि वह अपना रास्ता स्वयं ही बनाएगा, यह उसकी आवश्यकता है और मजबूरी भी। यदि वह स्वयं की अभिव्यक्ति के लिए किसी धन और आश्रमों का मोहताज है तो मुझे ऐसा अध्यात्म स्वीकार नहीं है।

व्यक्ति का धन दीनहीन की सेवा के लिए हो, गुरू की विलासिता के लिए नहीं। आज के अध्यात्म का मार्ग यदि झोंपड़ी की तरफ नहीं जाता है तो वह गुरूओं के आलीशान महलों की तरफ तो कतई नहीं जा सकता है। सर्वभूतों, दीन-दुःखियों और अपने चारों तरफ के वातावरण में ही सतगुरू के दर्शन हों। मनुष्य का हृदय ही आश्रम हो जो हर जीव-अजीव को शांति दे और उसके लिए सुख और परोपकार की कामना करे। व्यक्ति का घर ही आश्रम हो जहां पर माता-पिता और आगन्तुक परमात्मा तुल्य हों। शान्ति, विकास और सुरक्षा का आधार कम्यून, संघ या कोई गठजोड़ नहीं बल्कि स्वयं व्यक्ति हो जो समाज व वातावरण की जरूरत को समझे। व्यक्ति के विकास से समाज और देश के विकास का मार्ग स्वयं ही निर्मित होगा। यही आध्यात्मिक साम्यवाद है जो व्यक्ति एवं घर से आरम्भ होता है और विश्वमानव या महामानव के निर्माण पर इसकी पूर्ति होती है।

अध्यात्म का कार्य करने के लिए और उसमें जीने के लिए हमें किसी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या गुरूद्वारे की आवश्यकता नहीं है। इस कार्य के लिए केवल एक ही इन्फरा-स्ट्रक्चर या व्यवस्था चाहिए और वह है मनुष्य रूपी शिवालय, मनुष्य रूपी देवालय। मिट्टी के एक तत्व से बने तीर्थ स्थान, मूर्ति या शास्त्र इसकी आवश्यकता नहीं हैं बल्कि परमात्मा के जीवन से भरपूर पंचतत्व से निर्मित मनुष्य का शरीर चाहिए जिसके अन्दर

स्वयं सष्टि का स्वामी निवास करता है। मनुष्य के मन और हृदय में सारे देवी-देवता, सारे तीर्थ व शास्त्र समाए रहते हैं और यहीं से इन सभी की पैदायश है।

बुल्लेशाह कहते हैं-

मन्दिर ढ़ाहदे मस्जिद ढ़ाहदे, ढ़ाहदे जो कुछ ढ़हंदा ए।
पर दिल किसी दा न ढ़ाहवी रब दिलां विच रहंदा ए।।

मेरा ऐसा मानना है कि यदि मनुष्य के अन्दर आध्यात्मिक सूर्य अर्थात् विज्ञानमय या आनन्दमय पुरूष की एक किरण भी संचित हो जाती है तो वहां पर हर तरह की बरकत स्वतः ही बहने लगती है। वह धरती सबको अपनी तरफ खींचने लगती है। सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक व आर्थिक चेतना का विकास होने लगता है। किसी समाज में यदि एक भी व्यक्ति ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह समाज ही नहीं बल्कि देश भी उन्नति के शिखर पर पहुंचता है। ऐसे समाज या देश को हानि पहुंचाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। उत्थल-पुत्थल अवश्य आती हैं लेकिन हर उत्थल-पुत्थल जीवन की नई-२ सम्भावनाओं व चुनौतियों को जन्म देती है। कर्मयोगी समाज के लिए यही सम्भावनाएं और चुनौतियां वरदान बनती हैं और सुनहरे भविष्य का निर्माण करती हैं।

मनुष्य के लिए शारीरिक या मानसिक धर्म अलग-२ हो सकते हैं लेकिन आत्मा या रूह का केवल एक ही धर्म हो सकता है और वह है प्रेम। सच्चा प्रेम मनुष्य को जोड़ता है तोड़ता नहीं। प्रेम अनहद है जो हर हद को पार करने का सामर्थ्य रखता है। प्रेम की कोई जात नहीं है, प्रेम किसी धर्म या सम्प्रदाय का मोहताज नहीं है। वह यह नहीं पूछता कि सामने वाला व्यक्ति हिन्दू है या मुसलमान, सिख है या ईसाई, ब्राह्मण है या शुद्र। वह तो केवल देना जानता है, लेना उसकी फितरत ही नहीं है। अतः इस भौतिक संसार में प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही मार्ग और प्रेम ही मंजिल है। इस मार्ग में किसी अवतार, पैगम्बर या मसीहा की बाहरी पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन इनके आदर्शों का अनुसरण करके हमें इन्हें अपने ही अन्दर जीवित करना होगा। इनकी दैविक चेतना का अनुभव हमें अपनी ही आत्मा के अन्दर करना होगा तभी विश्व गांव का सपना साकार

हो सकेगा और धरती पर स्वर्ग बनाने की इच्छा की प्राप्ति हो सकेगी। वरना धर्म और समाज की ये दीवारें मनुष्य को हमेशा आपस में बांटती ही रहेंगी।

प्रेम सार्वभौमिक धर्म है, जिसे मनुष्य के साथ-२ पशु और पौधा भी मानता है। जीव-अजीव की यह सारी सष्टि इसी प्रेम के खिंचाव की शक्ति के कारण ही भिन्न-२ अस्तित्वों में बंटी हुई है और हर एक अस्तित्व अपनी पूर्ति के लिए दूसरे अस्तित्व के चारों ओर चक्कर काट रहा है। पौधा, पशु, पक्षी, जीव-अजीव हमारे किसी धर्म या शास्त्र को नहीं जानते, वे तो बस प्रेम की भाषा को पहचानते हैं। अतः प्रेम का धर्म (धर्मे-सीना) ही व्यावहारिक धर्म है जो मनुष्य को शाश्वत धर्म या धर्मे-हकीकत से वाकिफ करवाता है। इसलिए मानव कल्याण के इस यज्ञ में हमें किसी धन या द्रव्य की आवश्यकता नहीं है बल्कि प्रेम व पवित्र विचार की आहुति चाहिए और उसी के प्रति संकल्प की आवश्यकता है।

माता-पिता और परिवार से मिली आध्यात्मिक पष्ठभूमि ने हमेशा मेरा मार्गदर्शन किया है और जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। आध्यात्मिक मिशन का यह कार्य मेरी पत्नी और आध्यात्मिक सहयोगी श्रीमती बिमल की प्रेरणा से आरम्भ हुआ। मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज ने इस प्रेरणादायक चिंगारी को अपनी तवज्जह और दया के हाथ से ध्यान-भजन की हवा देकर ब्रह्म अग्नि में परिवर्तित किया जो हर समय योगयज्ञ की ज्योति (नूर) बनकर अन्दर जलती रहती है और अनहद नाद बनकर खुदाई कलमा (वर्ड) सुनाती रहती है। सम्भवतः इसी आध्यात्मिक चिंगारी को आंखों में देखकर मेरे सतगुरू शहनशाह ने मेरा नामकरण किया और मुझे 'प्रकाश' के नाम से पुकारने लगे। तब से वे हम दोनों को बिमलप्रकाश कहकर पुकारते थे। आज सत्संग का यह कार्य सतगुरू-मुर्शिद की दया और मेहर से ही आगे बढ़ रहा है और इसमें बिमल का विशेष योगदान है। आध्यात्मिक दष्टि से देखा जाए तो बिमल का ध्यान हमेशा ही सारी संगत में अव्वल रहा जिसकी चर्चा मेरे सतगुरू समय-समय पर संगत के बीच में करते रहते

थे।

यह मैं उन लोगों के लिए लिख रहा हूं जो स्त्री को तुच्छ व भोग की वस्तु समझते हैं और कहते हैं कि औरत आध्यात्मिक ऊँचाई को नहीं छू सकती है। मेरे सतगुरू कहते थे कि परमात्मा ने दो ही जातियां बनाई हैं, एक स्त्री व दूसरी पुरूष। यही दो जातियां पुरूष और प्रकति बनकर सष्टि का सजन करती हैं। जब स्त्री और पुरूष स्वयं का आधा अस्तित्व एक-दूसरे को समर्पित कर देते हैं तो ये अर्धनारीश्वर बनकर एक दूसरे का अंग-प्रत्यंग होकर कार्य करते हैं और एकता के सूत्र में बंध जाते हैं। प्रकति जब अपना पूर्ण समर्पण कर देती है तो यह परामाया या पराप्रकति या राधा बनकर पुरूष (स्वामी) के अन्दर समा जाती है और पुरूष पराप्रकति या पराशक्ति बनकर अपने परम् शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है जहां पर लिंग-भेद, जाति-पाति और धर्म-सम्प्रदाय सभी गुण व आकार अस्तित्वहीन हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मरूप या सतगुरू रूप का अनुभव जो भी व्यक्ति करता है वही ब्राह्मण कहलाता है। कुण्डलीनी शक्ति के सुदर्शन चक्र और आध्यात्मिक सूर्य व चन्द्रमा के दर्शन स्वयं के अन्दर करता है वही सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहलाता है। ऐसे आत्मिक स्रोत के आगे सारी भौतिक सत्ता की ऐश्वर्यता नतमस्तक हो जाती है और ऐसे स्रोत का मार्ग यदि किसी सांसारिक विलासिता का मोहताज है तो यह एक विडम्बना है। मैं यह नहीं कहता कि मुझे यह सब प्राप्त हो गया है बल्कि इस आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति मैं प्रयासरत हूं ताकि पूरी मानवता इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहभागी बन सके। अतः इस प्रयास रूपी यज्ञ में मैं आप सब को प्रेम और पवित्र विचार की आहुति देने के लिए आमन्त्रित करता हूं। मुझे विश्वास है कि एक दिन यह आध्यात्मिक लक्ष्य अवश्य ही फलित होगा और पथ्वी पर रहने वाले मानस का अतिमानसीकरण होगा।

प्रस्तुत संकलन इसी आध्यात्मिक मिशन की जागति व पूर्ति के लिए किया गया है। हमें आशा है कि यह संकलन एक क्रियात्मक, रचनात्मक और दिव्यात्मक अध्यात्म को पाठकों के हृदय में प्रज्जवलित करेगा और आत्मिक धर्म तथा सच्चे अध्यात्म की खोज करने में सहायता करेगा।

राधास्वामी।

कर्म से निवृति अध्यात्म नहीं

बाहर की आंखों से देखो सब झगड़ा झूठा है।
अन्तर की आंखों से देखो घट में खेल अनूठा है।
मन माया की फिरै दुहाई पांच पच्चीसों ने लूटा है।
ताराचन्द भव पार उतर गए जिन सतगुरू सिर पर खूंटा है।

मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि जिस व्यक्ति ने अंतर में नाम प्रकट कर लिया है उसे किसी वस्तु की कमी नहीं रह सकती है। उसके लोक परलोक दोनों सुधर जाते हैं। जब तक हम बाहर की आंखों से देखते हैं तो जो खजाना हमारे अन्दर छिपा हुआ है वह दिखाई नहीं पड़ता और मनुष्य भरपूर होकर भी भिखारी की तरह दर-दर की ठोकरें खाता फिरता है।

नाम के प्रकट होने से अन्तर में कामधेनू गाय प्रकट हो जाती है। यह वह वस्तु है जिसे ऋषि विश्वामित्र ने ब्रह्मऋर्षि वशिष्ठ से जोर-जबरदस्ती छीनने का प्रयत्न किया तथा उनकी सारी संतानों की हत्या कर दी लेकिन इस वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सके। यह वह वस्तु है जिसके द्वारा ऋषि भारद्वाज ने राजा भरत की भूख-प्यास से संतप्त सारी सेना की तृप्ति कर दी थी। इसे बल द्वारा नहीं केवल प्रेम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वासनाओं के अधीन होकर इसके दर्शन नहीं किए जा सकते हैं।

लग रही आपता नहीं धापता।
मृग की गैल हो रहा चीता,
कहै चमन अंत में जाएगा रीते का रीता।

अर्थात् इस संसार में आकर शेर अज्ञानवश भेड़ों के साथ घूमता रहता है। लेकिन जब वही सतगुरू रूपी गडरिये की शरण में जाता है तो वह उसे उसकी असलियत से वाकिफ करवाता है। फिर वही शेर जो अभी तक भेड़ रूप में घूम रहा था, दहाड़ने लगता है और सारी भेड़ें बिदक-बिदक कर भागने

लगती हैं। सतगुरू महाराज अकसर सत्संग में सुनाते थे-

संत सूरमा शेर है गरजै और गाजै,
दुनिया भेड़ है बिदकै और भाजै।

शंकराचार्य कहते हैं कि एक ज्ञानी मनुष्य जिसे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हुआ है उसमें और एक पशु में कोई अन्तर नहीं है। जैसे पशु चारा दिखाने पर पास आ जाता है और डंडा दिखाने पर दूर भाग जाता है, उसी तरह ब्रह्मज्ञान से रहित शास्त्रों का ज्ञानी भी अपनी भूख की पूर्ति के लिए परमात्मा के नाम का सहारा लेता है और तनिक कठिनाई आने पर पशु की तरह व्यवहार करने लगता है।

सतगुरू महाराज कहते थे कि जिसने एक बार अंतर की धुन को सुन लिया वह यदि गरीब रह जाता है और उसे शान्ति नहीं मिलती तो उस नाम को और सतगुरू को लाज है। स्वामी जी महाराज ने सन् 1861 ई. में राधास्वामी सत्संग की नींव रखते समय कहा था कि इस नाम का स्मरण, ध्यान और भजन करने से इहलोक और परलोक दोनों में बरकत होगी। आपने फरमाया है -

लोक अलोक पाऊं सुख धामा।
चरण शरण दीजो विश्रामा।

जब सतगुरू की शरण दृढ़ हो जाती है तो किसी भी चीज की कमी नहीं रहती है। कहा गया है-

जा को दर्शन इत है वा को दर्शन उत्त,
जा को दर्शन इत नहीं वा को इत न उत्त।

जिसको इस जीवन में मालिके कुल के दर्शन नहीं होते उसे मृत्यु के बाद भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि स्वप्न में कितनी भी यात्रा करो, कितना भी सफर तय करो, आंख खुलते ही व्यक्ति वहीं का वहीं रहता है। स्वप्न में कितने भी स्वादिष्ट भोजन करो भूख नहीं मिटती, कितना भी अमृतपान करो प्यास नहीं मिटती, कितनी भी लक्ष्मी इकट्ठी करो गरीबी

नहीं हटती। इसी प्रकार स्वप्न में राम, कृष्ण व दूसरे अवतारों के दर्शन से उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यदि इस तरह होता तो परमात्मा को रावण व कंस का वध करने के लिए राम व कृष्ण के रूप में जन्म लेकर आने की क्या आवश्यकता थी? उन राक्षसों को सूक्ष्म रूप से भी मारा जा सकता था। अत: हमें इस स्थूल संसार में रहते हुए प्रकृति के नियमों का पालन करना होगा। स्थूल रूप में आए हुए पुरूषों में उत्तम पुरूष (पुरूषोतम) को ढूंढना होगा, उसका संग करना होगा। उसके उपदेश को अपने अन्दर उतारना होगा तब जाकर सतगुरू रूप में अपनी ही आत्मा के दर्शन हो सकेंगे और हर तरह की गुलामी की जंजीरे टूट सकेंगी और यह भी इसी जीवन में करना होगा। अत: इसी जीवन का सदुपयोग करने से कुल्ल मालिक के भण्डार में साझा हो सकता है और एक बार यदि उस भण्डार में हिस्सा हो जाता है तो फिर साधक को किस वस्तु की कमी रह सकती है क्योंकि परमात्मा सब भण्डारों का भण्डार है, स्रोत है। वे कहते थे कि जिसने नाम प्रकट कर लिया, कुबेर भण्डारी उसके काबू में आ जाता है। जो गुरू दो रोटी नहीं दे सकता वह मुक्ति कैसे दे सकता है - आपका यह उपदेश उन सभी गुरूओं के लिए मार्ग दर्शन करता है जो संगत से पैसा लेते हैं और उसे अपने या अपने परिवार के ऊपर खर्च करते हैं या संगत का चढ़ावा अपने शरीर के लिए प्रयोग करते हैं।

आपकी शिक्षा उन लोगों के लिए चेतावनी थी जो घर में रहते हुए मां-बाप या सास-ससुर की सेवा नहीं कर सकते और मूर्तियों पर दूध व फल चढ़ाते हैं। यह राधास्वामी योग की पहली सीढ़ी है। यदि घर-परिवार में शान्ति है तो ध्यान-भजन भी शान्ति से बन सकता है।

एक बार एक किसान शिकायत लेकर आया कि आपने मेरा घर बिगाड़ दिया है, मेरी पत्नी ने आप से नाम लिया है। मैं जब खेत से काम करके घर लौटता हूं तो मुझे ही बैल खोलने पड़ते हैं और नहाने के लिए पानी भी खुद गर्म करना पड़ता है। जब आपने उसकी पत्नी से पूछा तो वह

कहने लगी - महाराज! मुझसे तो एक ही काम होगा, या तो नाम पर बैठूंगी या घर का काम करूंगी। आपने उस बहन से कहा कि तुझे नाम लेने की जरूरत नहीं है, तू अपने घर का काम ही कर ले। अभी नाम के योग्य नहीं हुई है। नाम की दीक्षा घर, समाज व देश के प्रति प्यार बढ़ाने के लिए है ना कि आपस में नफ़रत पैदा करने के लिए। इसी से आपकी शिक्षा का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

आप अपने सतगुरू अरमान साहब की बात सुनाते हुए कहते थे कि एक बार उनके पास एक आदमी आकर कहने लगा कि मैं सब कुछ छोड़कर आ गया हूं और आपकी सेवा में रहकर परमात्मा को पाना चाहता हूं। अरमान साहब ने उससे पूछा कि क्या-क्या छोड़ कर आ गया है। उसने बताया कि वह अपने बूढ़े माता-पिता, पत्नी और बच्चे सभी को छोड़कर आ गया है। वे उस व्यक्ति से कहने लगे - जब तुम अपने मां-बाप और बच्चों के नहीं हो सके तो मेरे कैसे हो सकते हो? अरमान साहब लोगों को सचेत करते हुए कहते थे-

बहुत से धनवान देखे डेरा था श्मशान में,
आग आई तैयार होले कह रहे थे कान में।
चिता ही में जलते देखे खूबसूरत थे वे शान में,
रामसिंह सत्संग करना मस्त रहना ध्यान में।

राधास्वामी पंथ घर में रहकर भक्ति करने का मार्ग है। कभी-2 वातावरण और मन की शुद्धि के लिए सत्संग करना चाहिए लेकिन हर समय सत्संग (अच्छे संग) का प्रभाव मन के ऊपर रहना चाहिए। जो व्यक्ति अच्छे संग में रहता है वह कभी भी जिन्दगी की जंग नहीं हार सकता। चाहे कोई गरीब है या धनवान, सभी एक ही तरह जन्म लेते हैं और एक ही तरीके से शरीर छोड़ कर जाते हैं। इसलिए सबके लिए परमार्थ का रास्ता भी एक ही हो सकता है। परमात्मा की बनाई हुई इस सृष्टि का बहिष्कार करके उसकी प्राप्ति नहीं की जा सकती है। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं-

घर में रहो कमा कर खाओ।

पर धन पर त्रिया से नेह न लगाओ।।

अंश के ज्ञान से ही वंश का ज्ञान हो सकता है। आत्मा ही परमात्मा का अंश है, बाकि सब चीजें आत्मा की शक्ति का अपभ्रंश हैं, उसकी पैदायश हैं, उसके विकार हैं इसलिए आत्मा के ज्ञान व अनुभव से ही परमात्मा का ज्ञान व अनुभव लिया जा सकता है। इसके लिए अन्तर्मुखी होना ही एकमात्र विकल्प है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

प्रेम के बिना ज्ञान अधूरा

मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम्संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि जिसके पास प्रेम रूपी दौलत है वह शहनशाहों का शहनशाह है और जो प्रेम से रूखा है उसके पास सांसारिक दौलत होते हुए भी वह नाम की दौलत से खाली है क्योंकि परमात्मा स्वयं प्रेम स्वरूप है। भगवद् गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैं सब जीवों के हृदय में रहता हूं। बुल्लेशाह कहते हैं–

मंदिर ढ़ाहदे मस्जिद ढ़ाहदे, ढ़ाहदे जो कुछ ढ़हंदा ए।

पर दिल किसी दा न ढ़ाहवीं, रब दिलां विच रहंदा ए।।

परमात्मा को खोजने के लिए घरबार छोड़कर, माता–पिता और बच्चों को छोड़कर जाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता क्या है?

प्रेम प्रेम सब कहैं प्रेम ना चीन्हा कोए।

आठ पहर भीगा रहे प्रेम कहावे सोए।।

जो अपने प्रीतम के प्यार में हर क्षण डूबा रहता है वही असली प्रेमी है। दुनियां के कामकाज करते हुए भी गुरूमुख शिष्य की वृति हर वक्त अपने मुर्शिद के स्वरूप पर टिकी रहती है, जिस प्रकार लोभी व्यक्ति की वृति धन पर और कामी की कामिनी के ऊपर आठों पहर टिकी रहती है। प्रेम का सच्चा ग्राहक कौन है?

प्रेम ना खेत उपजै प्रेम ना हाट बिकाय।

राजा प्रजा जे रूचै शीश देई ले जाये।।

कबीर साहब कहते हैं–

ये तो घर है प्रेम का खाला का घर नांह।

शीश काट पग तलै धरै तब पहुंचे वहां।।

तुलसी दास जी कहते हैं –

राम राम सब कहें ठग, ठाकुर अरू चोर।

बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नंद किशोर।।

फिर कहते हैं-

जिन प्रेम किया तिन ही प्रभु पायो।
बिना प्रेम कछु हाथ न आयो।।

जो प्रेम की जात को जानता है वह जाति पाति का अभिमान नहीं करता है क्योंकि-

पल्टू ऊंची जात का मत करो कोई अहंकार।
साहिब के दरबार में केवल भगत पियार।।

प्रेम के बिना सतगुरू के देश में रसाई नहीं हो सकती-

जोगी, जपी, तपी, सन्यासी, दरवेश।
बिना प्रेम पहुंचे नहीं सतगुरू दुर्लभ देश।।

असली प्रेम वही है जो शरीर की नस-नस में समा जाए-

छिन ही चढ़ै छिन ही उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोए।।

प्रेमी की तड़फ क्या होती है मीराबाई से अधिक कौन जान सकता है-

काढ़ कलेजा मैं धरू रे कागा तूं ले जा,
जिन देशां मेरे प्रीतम बसते वे देखैं तू खा।
बाबूल बैद बुलाइयां रे पकड़ दिखाई म्हारी बांह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणि करक कलेजे मांह।।

विरह की चोट जिसे लगती है इसे वही जानता है-

चोट सतावै विरह की, सब तन जरजर होय।
मारन हारा जानही, कै जेहि लागै सोय।।
बिरह भुवंगम बस नहीं, किया कलेजे घाव।
बिरहिन अंग न मोड़िहै, ज्यों भावे त्यों खाव।।

विरही के दु:ख का वर्णन करते हुए सांई बुल्लेशाह कहते हैं-

अब लगन लगी क्या करिए, ना जी सके ना मरिए।
तुम सुनो हमारे बैना, मोहि रात दिन नहीं चैना।।

जिस घट में प्रेम नहीं वह घट शमशान है-

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, सांस लेत बिन प्रान।

दादू साहिब प्रीतम के एक क्षण मात्र के दर्शन पर दीन-दुनियां, तन-मन और स्वर्ग-नरक कुर्बान करते हुए कहते हैं-

दीन दुनि सदके करूं, टुक देखन को दीदार।
तन मन भी छिन-छिन करूं, बहिश्त दोजख भी वार।।

शंकराचार्य अपने गुरू गोविन्दपाद की आज्ञा से देश भ्रमण की तैयारी कर ही रहे थे कि उन्हें उनकी माता आर्यम्बा का आखरी संदेश मिला। संदेश पाते ही वे दौड़े-दौड़े माता के पास पहुंचे और उनकी सेवा में हाजिर हो गए। माता कहने लगी कि पुत्र अब मैं इस संसार से विदा होना चाहती हूं। सुना है कि तू बहुत शास्त्र जानता है इसलिए अपना ज्ञान मुझे भी सुना। शंकर अपने द्वारा रचित अद्वैत वेदान्त उन्हें सुनाने लगे। सब कुछ सुनकर माता आर्यम्बा ने कहा- ये ऊंची बातें हैं, बेटा । देश के सब लोग क्या तेरी इन बातों को समझ सकेंगे ? मुझे तो भगवान की भक्ति की कोई बात सुना जिससे मेरा मन शान्त हो और मैं शांति के साथ भगवान की शरण में जा सकूं। तब शंकराचार्य की समझ में आया कि जब तक वेदान्त के तत्वज्ञान को प्रेम और भक्ति का आधार नहीं मिलता तब तक यह जन-साधारण के किसी भी काम का नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि सृष्टि की रचना प्रेम से हुई है, प्रेम परमात्मा का ही दूसरा नाम है। ओशो प्रेम को ही साधन और प्रेम को ही साध्य मानते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं- Love is the Crown of Knowledge and works अर्थात् प्रेम सभी ज्ञान और कर्मों का सरताज है।

कबीर साहब प्रेम को ही असली पूजा मानते हैं-

पढ़-पढ़ पत्थर भया, लिख-लिख भया ज्यों ईंट।
कबीर अन्तर प्रेम की एको न लागी छींट।।

प्रेम आरम्भ होते ही मनुष्य सबसे पहले अपने आप को खोने लगता है और अध्यात्म में खुदी अर्थात् अहंकार का मिटाना ही सबसे कठिन काम है। खुदी के पर्दे हटते ही आत्मा का नूर (प्रकाश) चमकारे मारने लगता है। तन, प्राण, मन, बुद्धि आलोकित हो उठते हैं। नूर की बाढ़ सी आ जाती है। मनुष्य की पूरी प्रकृति दिव्य हो उठती है। अन्तर से दिव्य वाणी (अनहद गीत) या खुदा का कलमा निरंतर होकर सुनाई देने लगता है। शरीर परमात्मा का ऐसा मंदिर बन जाता है कि इसी के भीतर घंटा बजता है और अन्दर की ज्योति जलती है। भक्त स्वंय के अन्दर मस्त हो जाता है। संसार में रहते हुए संसार से विरक्त रहता है। जब वह अपनी मस्ती में आता है तो कबीर की तरह कह उठता है–

माला फेरुं न हर भजूं मुख से कहुं न राम।
मेरा साईं मुझको भजे तब पाऊं विश्राम।।

मन ही ईश्वर मन ही शैतान

कबीर साहब मन की ताकत और उसके विस्तार का वर्णन करते हुए कहते हैं–

मन ही देवी देवता मन ही पित्तर भूत।
मन ही हरि होत है हरि को भजे सो चेत।।

महात्मा कहते हैं कि ये सृष्टि ब्रह्मण्डी मन की लीला है, खेल है। इसे कोई काल कहता है, कोई महाकाल, कोई माया, शैतान तो कोई इसे अहरिमन कह कर पुकारता है। जब यह विकराल रूप धारण करता है तो बड़े-बड़े सूरमाओं को धाराशायी कर देता है। जब यह माया रूप धरकर छलता है तो बड़े-बड़े ऋषि-महात्मा और धुरन्धर इसके आगे-आगे नाचने लगते हैं। यही मन ब्रह्मा को अपनी पुत्री के साथ भोग करने पर विवश कर देता है तो यही विष्णु को असुर जालन्धर की पत्नि का सतित्व भंग करने की सलाह देता है तथा भगवान शिव को अपनी पत्नि उमा को छोड़कर एक नाचने वाली औरत के साथ विवाह करने के लिए और समुंद्र मंथन के समय मोहिनी के पीछे-2 भागने के लिए उकसाता है। यही मन ब्रह्मा, विष्णु व महेश को सती अनसूया का सतीत्व नष्ट करने के लिए प्रेरित करता है। यही इच्छा पैदा करता है तो यही इच्छा की पूर्ति भी करता है। यही ऐश्वर्य है तो यही ऐश्वर्य का भोग करने के लिए मनुष्य को आमादा करता है और जो ऐश्वर्य की पूर्ति करता है वही ईश्वर कहलाता है। जब तक सुख-दु:ख की इच्छा भासती है तब तक मन अधिकता या न्यूनता के साथ मनुष्य के साथ उलटफेर करता रहता है।

तो क्या परमार्थ की इच्छा करना भी मन का खेल है? इच्छा अच्छी हो या बुरी, इसी मन का अटूट और अखण्ड रूप है। कभी यही मन जिस्मानी हो जाता है तो कभी रूहानी। जब यह जिस्मानी होता है तो मनुष्य जीवन और इन्द्रियों के भोग-विलास में डूबता चला जाता है और अपने

अन्दर विद्यमान सप्तरंगी मणि के प्रकाश को विलास और गफलत के अंधकार में खो देता है या कह सकते हैं कि उससे दूर चला जाता है जहां उसकी न्यूनता होती है, उसका विपरीत पक्ष होता है, अधंकार और अविवेक होता है। जब यही मन दूसरी तरफ की चढ़ाई करता है तो पवित्र होकर हल्का होता चला जाता है। बेदाग मनुष्य की चाल ही निराली होती है, वह हवा में उड़ता चलता है। स्वप्न में भी आकाश में उड़ता रहता है लेकिन जब यह दागी हो जाता है तो इसका साक्षात्कार भूत-प्रेत और राक्षसों से होने लगता है। ये भूत-प्रेत या राक्षस कहीं बाहर से नहीं प्रकट होते हैं बल्कि मन की चेतना रूपी चादर पर अंकित संस्कार प्रकाशित हो उठते हैं और मनुष्य इन्हें बाहरी हवा मानकर इनके इलाज का प्रयत्न करने लगता है तथा सेवड़े, बुझागरों व ज्योतिषियों के झमेले में फंसता चला जाता है।

जब यह मन रूहानी होने लगता है तो यही आत्मरूप बन जाता है और शक्ति का चुम्बक बनकर स्थिर हो जाता है। जो इच्छा करता है वह स्वत: ही पूर्ण होने लगती है। जब यह मन आत्मा की चरम अवस्था प्राप्त कर लेता है तो उस व्यक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता है। वह सारी दुनियां को प्रकाश और विवेक के शिखर पर पहुंचा सकता है। मेरे विचार से आज तक जितने भी अवतार, मसीहा, पीर, पैगम्बर या संत आए हैं हो सकता है उन्हें आन्तरिक ज्ञान की परम् अवस्था प्राप्त हो लेकिन उस अनुभव का भौतिक चेतना अर्थात् व्यावहारिक रूप में अवतरण अभी तक अधूरा है इसीलिए एक मत दूसरे मत से और एक धर्म दूसरे धर्म से लड़ रहा है। अत: सामरिक दृष्टि से अब तक के सभी महापुरूष अर्ध-विकसित या अविकसित चेतना के अवतार आए हैं। वे सभी हमारे लिए आदर्श हो सकते हैं, पूजनीय हो सकते हैं लेकिन अन्तिम लक्ष्य नहीं। इसलिए कोई भी मूर्ति या स्वरूप या शास्त्र केवल मील का पत्थर हो सकता है मंजिल नहीं। पूर्ण विकसित चेतना का अवतार वही पुरूष होगा जो सारे संसार की चेतना को अलग-2 धर्म व मजहब के अन्दर रहते हुए प्रेम और भाईचारे की भावना में बांध कर रख देगा।

एक दिल दूसरे दिल के लिए बहने लगेगा। सभी धर्म, मत व सम्प्रदाय अपने वास्तविक ध्येय को प्राप्त कर जाएंगे। उस दिन ऋगवेद में वर्णित विश्वमानव की प्राप्ति होगी और वैदिक या आध्यात्मिक साम्यवाद का लक्ष्य फलित होगा।

पूर्ण समर्पण के बिना सफलता सम्भव नहीं

मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि सत्संगी बनना बड़ा कठिन है, मुझसे लाखों ने नाम लिया है लेकिन सत्संगी कोई बिरला ही नजर आता है। जो व्यक्ति जगह-2 माथा टेकता है वह सत्संगी नहीं होता, वे कहते थे-

जन-जन का मन राखती वेश्या रह गई बांझ।

गुरूमुख और पतिव्रता का निशाना एक होता है, उन्हें दूसरा नहीं भाता है। वे जो चाहे कर सकते हैं। स्वामी जी महाराज ने कहा है-

गुरूमुख की गति अति भारी।
गुरूमुख कोटिन जीव उभारी।।

कबीर साहब के अनुसार-

सतनाम को छोड़ कर करे अन्य की आस।
कहै कबीर तां दास का होय नरक में वास।।

फिर कहते हैं-

एक छोड़ अन्य को ध्यावे।
ऐसा डूबे थाह ना पावे।।

द्वैत भाव रखते हुए यदि भक्ति की जाए तो उसका लाभ नहीं मिलता है-

क्या जप क्या तप क्या व्रत पूजा।
जा के हृदय भाव है दूजा।।

एक भाव और भक्ति कैसे प्राप्त हो, गुरूवाणी कहती है-

जिन सतगुरू चित्त लाईयां।
तिन दूजा भाव चुकाईयां।।

गुरू नानक फरमाते हैं-

एको जप एको मन आई, एको सुमरो एको मन भाई।
एकस के गुण गाओ अनंत, तन मन जपो एक भगवंत।।

जब तक मनुष्य एक का भाव नहीं रखता है वह अन्दर से विभाजित रहता है। उसके अन्दर ताकत होते हुए भी वह अलग-2 रूपों में बिखरी रहती है। परमात्मा को जिस रूप में देखा जाए वह उसी रूप में प्रकट हो जाता है क्योंकि वह असीमित और अनंत गुणों वाला है। जिस गुण के साथ उसे सच्चे मन से याद किया जाए, वह प्रकट हो जाता है लेकिन वह तभी प्रकट होता है, जब हृदय में एक ही भाव और एक ही रूप को लगातार तपाया जाए। रूप कोई भी लिया जाए लेकिन रूप से अरूप तक का सफर तय करने के लिए अपने मनवांछित रूप में स्वयं को खोना पड़ता है। इसके बिना अहंकार अपने संकल्प के साथ मौजूद रहता है। व्यक्ति में दीनता और सच्चा प्रेम जागृत नहीं हो सकते हैं और जब तक प्रेम पैदा नहीं होता तक तक आत्मिक सफर मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव है और प्रेम तब आ सकता है जब व्यक्ति कहीं पर अपने मन हो हार जाता है। इसके बाद अंतर में विद्यमान सभी संस्कार और उनके बीज निर्मूल हो जाते हैं क्योंकि इन सबका आश्रय स्थान मन ही है जो इनको कभी जगा देता है और कभी सुला देता है।

इसके लिए अनेक से छूट कर एक के साथ जुड़ना और समर्पण करना अति आवश्यक है, गुरूवाणी कहती है-

याको जपत मन होई आनंदा बिनसे दूजा भाव।
दुख दर्द तृष्णा बुझे नानक नाम समाऊ।।

ऐसा होने पर व्यक्ति नाम अर्थात् परमात्मा के अन्दर समा जाता है, वह अपने लक्ष्य को बींध देता है।

गुरू द्रोणाचार्य धनुष विद्या का अभ्यास करवा रहे थे, शिष्यों को पेड़ पर टंगी हुई चिड़िया की आंख का भेदन करने के लिए कहा गया था। एक-एक शिष्य आ रहा था। गुरू द्रोण लक्ष्य भेदन से पहले हर एक से पूछ रहे थे कि उसे क्या दिखाई दे रहा है? सभी ने कहा कि उन्हें चिड़िया दिखाई दे रही है। गुरू जी ने पूछा कि चिड़िया के अतिरिक्त और क्या दिखाई देता है? एक ने कहा कि उसे वह डाल भी दिखाई दे रही है जिस पर चिड़िया

बैठी है तो दूसरे ने कहा कि डाल पर लगे पत्ते दीख रहे हैं। किसी ने कुछ कहा तो किसी ने कुछ। लेकिन जब यह प्रश्न अर्जुन से पूछा गया तो उसका जवाब सबसे अलग था। उसने कहा कि उसे आंख दिखाई दे रही है। गुरू जी ने वही प्रश्न उससे भी पूछा कि आंख के अतिरिक्त और क्या-2 दिखाई देता है? उसने कहा कुछ नहीं गुरूदेव। द्रोण ने पूछा क्या चिड़िया भी नहीं? अुर्जन ने कहा उसे केवल आंख दिखाई दे रही है। अुर्जन ही अकेला ऐसा शिष्य था जो चिड़िया की आंख को बींध सका था। अत: सांसारिक क्षेत्र हो या आध्यात्मिक, यदि मनुष्य स्वयं के अन्दर विभाजित है और एक के प्रति पूर्ण तौर पर समर्पित नहीं है तो उसे जीवन में सफलता मिलना आसान नहीं है।

नाम की प्राप्ति और कुण्डलीनी जागरण

मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज नाम -भेद वर्णन करते हुए कहते थे कि नाम दो प्रकार का होता है- वर्णात्मक और धुनात्मक।

जो कहन-सुनन में आया वह वर्णात्मक कहलाया।

अर्थात् जो नाम लिखने, पढ़ने व सुनने में आ जाता है वह नाम वर्णात्मक कहलाता है। धुनात्मक नाम ध्वनि का नाम है जो नामी के संग रहने से अन्तर में सुनाई देती है। इस धुन को कौन सुन सकता है? किसी जिज्ञासु ने उनसे प्रश्न किया-

इन्द्रि, मन और बुद्धि की वहां तलक गम नांय।
कौन सुने कैसे सुने सतगुरू दो बतलाय।।
सुरत सुने उस शब्द को कहो गुरू किस ढंग।
क्या साधन कैसे सुनूं करूं कौन का संग।।

महाराज जी ने फरमाया -

हो जाते जब शिष्य पर सतगुरू मेहरबान।
ताराचन्द घट में सुने अन्तर धुन बिन कान।।
वह शब्द जिसने सुना करो उसी का संग।
ताराचन्द गिरि पर चढ़े गुरू की दया अपंग।।

फिर कहते हैं-

जप-तप कर जग मर गया नाम न आया हाथ।
नाम नामी के संग है कर नामी का साथ।।

मुरीद ने प्रश्न किया - मन को काबू में लाना बड़ा मुश्किल है? मुर्शिद ने जवाब दिया-

मन पंछी तब लग उड़े विषय वासना मांहि।
प्रेम बाज की झपट में जब तक आया नांहि।।

मुश्किल है मन का डाटना पल पल लेत उडारी।
सहजा है मन का डाटना जब सतगुरू बने मल्हारी।।

जिस मनुष्य के पास प्रेम रूपी दौलत है वह नामी अर्थात् परमात्मा से मिल सकता है और जो इस दौलत से वंचित है वह नाम रहस्य या सुरत-शब्द योग का भेद नहीं जान सकता है। प्रेम एक ऐसी ताकत है जो विरही को हर तरफ से हटा देती है और नामी के साथ जोड़ देती है। नाम के साथ जुड़ कर ही नामी को ढूंढा जा सकता है।

तुलसी दास जी कहते हैं-

कलयुग कर्म धर्म ना कोई, नाम बिना उद्धार न होई।
कलयुग केवल नाम आधारा, सुमर-2 नर हो गए पारा।।

परसुराम जी नाम की बड़ाई करते हुए कहते हैं-

नाम लिया जिन सब किया योग यज्ञ आचार।
जप तप तीर्थ परसराम सभी नाम की लार।।

जिसने नाम को प्रकट कर लिया है उसे आन्तरिक वेद का ज्ञाता कहा जाता है-

नाम लिया जिन सब किया सकल वेद का भेद।
बिना नाम नरकी गए वे पढ़ते चारों वेद।।

नाम तीन लोक की वस्तु नहीं है-

हिन्दु तो वेदों में ढूंढ़े मुसलमान कुरान।
दुनियां ढूंढ़े त्रिलोकी माही हाथ न आया निज नाम।।

नाम की कीमत आंकते हुए कबीर साहब कहते हैं-

ऊंची पौड़ी नाम की गुरू चढ़ सके ना कोय।
इस पौड़ी पर वो चढेंगे धड़ पर शीश न होय।।

जब नाम अंतर में प्रकट हो जाता है तो क्या होता है?

बाबर प्याला शराब का उतर जाए प्रभात।
नानक ख्वारी नाम की चढ़ी रहे दिन रात।।

सारे पाप कर्म जल कर नष्ट हो जाते हैं-

राम नाम के लेत ही होत पाप का नाश।
ज्यों चिंगारी आग की पड़े पुरानी घास।।

जब अंतर में नाम की दौलत प्रकट हो जाती है तो अंतर की बैचेनी शान्त होने लगती है। मनुष्य कभी न समाप्त होने वाली दौड़ में दौड़ता हुआ भी उसकी मारामारी से अछूता बना रहता है। जीवन का वास्तविक अर्थ समझ में आने लगता है।

मात्र गुरू से नाम की दीक्षा लेने से नाम की प्राप्ति नहीं होती है। दीक्षा लेकर यदि नाम को मन की अलमारी में बंद करके रख दिया जाता है तो उसका कोई लाभ नहीं है। नाम अंदर की धुन को कहते हैं जो हमेशा शरीर के अन्दर स्वयं ही होती रहती है और जिसे तीसरी आंख के स्थान पर ध्यान करने से सुना जा सकता है। निरंतर स्मरण से जब मन की वृति एकाग्र होने लगती है तो तीसरे तिल के स्थान पर इकट्ठी होकर ज्योति के रूप में प्रकट होने लगती है, कुण्डल बनाने लगती है और सुदर्शन चक्र की तरह घूमती हुई कभी फैलती है तो कभी सिकुड़ती है। कभी सांवले रंग, कभी नीलिमा तो कभी लालिमा, कभी गुलाबी, पीली या सफेद उज्जवलता में लिपटी हुई कुण्डलीनी शक्ति अपनी मौजूदगी का इजहार करने लगती है और इसके अन्दर से अलग-2 तरह के राग फूटते हैं जो अपने संगीत की सुगंध से मन को मोहित करते हैं तथा मन सतगुरू के इस नूरी (ज्योतिमय) और नादी स्वरूप के दर्शन करता हुआ आत्मरूप होता चला जाता है और अपने संकल्प-विकल्प हारता चला जाता है। यह सब अन्तर्मुखी होने पर ही सम्भव हो सकता है और नाम की प्राप्ति भी तभी हो सकती है।

अध्यात्म में गुरू का महत्त्व

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे-

गुरू लोभी शिष्य लालची दोनों खेलें दाव।
अधबीच में डूब गई थी पत्थर की नाव।।

संसार का कोई भी मार्ग है उसमें मार्ग दर्शक का महत्व हमेशा ही रहा है। बिना मार्ग दर्शक भी लोग आगे बढ़ते हैं लेकिन उन्हें रास्ते की बारीकियों का ज्ञान नहीं हो पाता है। बच्चे को ही लीजिए, यदि जन्म लेते ही उसे जंगल में छोड़ दिया जाए और कोई संस्कार न दिया जाए तो उसमें और आदि मानव में कोई अंतर न होगा। मनुष्य ने मानसिक विकास की जो यात्रा हजारों-लाखों साल में की है उससे वह होश संभालते ही परिचित होने लगता है और आगे छलांग लगाने की तैयारी करने लगता है। जिस मुकाम पर आज हम खड़े हुए हैं हमारी नस्ल उसकी सीख लेकर आगे बढ़ती है। यही है वह मार्ग दर्शन और जीवन का अनुभव जो शिक्षार्थी को हमेशा ही प्रकृति के किसी न किसी साधन से लेते रहना पड़ता है। देखा जाए तो जिस साधन से भी हमें सीख और ज्ञान मिलता है उसी का नाम गुरू है। जिस ज्ञान को लेने के लिए मनुष्य को वर्षों और यहां तक सारा जीवन जूझना पड़ सकता है उसी ज्ञान को गुरू या मार्गदर्शक के जरिए वह कुछ ही समय में प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य के आरम्भिक गुरू उसके माता-पिता हैं जिनका उसके जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है जो उसे मौलिक प्रकृति प्रदान करते हैं। दूसरा गुरू शिक्षक है जो शिक्षा के द्वारा उसकी मौलिक प्रकृति के उबड़-खाबड़ स्थानों को ज्ञान के पानी से सींचता है और उसे उपजाऊ बनाता है। जीवन के तीसरे स्तर पर एक गुरू और है जो शरीर तथा मन की गहराइयों में समायी मलिनता को धोने का कार्य करता है, उसका नाम है आध्यात्मिक गुरू। आध्यात्मिक गुरू व्यक्ति को आत्मिक शक्ति प्रदान करता है। वह

व्यक्ति का चोला बदल देता है और उसकी चेतना में नई शक्ति का संचार करता है, उसे नया नजरिया प्रदान करता है। वह माता-पिता और शिक्षक द्वारा दी गई चेतना को बदल तो नहीं सकता है लेकिन उसे पुनर्जन्म अवश्य दे सकता है। उसके बाहरी सांचे को वह बदल तो नहीं सकता है लेकिन उस सांचे को आधार प्रदान करने वाली जीवन धारा को नयी दिशा व ऊंचाई अवश्य प्रदान कर सकता है। जीवन धारा की यह नई दिशा बेशक उसके बाहरी सांचे (शरीर) को न बदल पाए लेकिन यह जीवन धारा उसकी आने वाली प्रणाली के बाहरी व आन्तरिक सांचे अर्थात् शारीरिक व मानसिक बनावट को बदलने में सक्ष्म है क्योंकि वह मनुष्य को हारमोनल बदलाव देती है, आलकैमि रूपान्तरण प्रदान करती है जो आने वाली पीढ़ियों की नस्ल व क्षमता को नया रंग, रूप और नाम देने में अहम् भूमिका अदा करती है। इसीलिए कबीर साहब कहते हैं-

गुरू को मानुष जानते ते नर कहिए अंध।
दु:खी होय संसार में आगे यम का फंद।।

सतगुरू दिखने में बेशक दूसरे मुनष्यों जैसा दिखता है लेकिन उसका आन्तरिक संबंध ऊंचे दर्जे की अनहद शक्ति के साथ हर दम जुड़ा रहता है। अधूरे गुरूओं ने अध्यात्म को नुकसान पहुंचाया है। ऐसे गुरू ध्यान-भजन पर जोर देते हैं लेकिन आन्तरिक सूक्ष्म रहस्यों से अनभिज्ञ होते हैं-

गुरू किया है देह को सतगुरू चिन्हा ना।
भव सागर की धार में फिर फिर भटका खा।।

सतगुरू का नूरी और कारण स्वरूप हर मनुष्य के अन्तर में विराजमान है। जब वह प्रकट हो जाता है तभी सतगुरू की असली प्राप्ति हो पाती है। कबीर साहब कहते हैं-

गुरू हमारा गगन माहीं, चेला है घट माहीं।
सुरत-शब्द मिलना भया, बिछड़त कबहूं नाहिं।।

अर्थात् जब सुरत (आत्मा) और शब्द (परमात्मा) का

मिलन हो जाता है तभी गुरू और शिष्य का वास्तविक मिलन होता है। पूरे गुरू की पहचान बताते हुए स्वामी जी महाराज कहते हैं–

गुरू सोई जो शब्द स्नेही। शब्द बिना दूसर नहीं सेई।।
शब्द कमावे सो गुरू पूरा। उन चरनन की होजा धूरा।।

जब शिष्य शब्द–भेदी सतगुरू से मिल जाता है तो उसके अन्तर में लगातार अनहद शब्द गूंजने लगता है, उसकी लड़ी कभी टूटने में नहीं आती है। कबीर साहब कहते हैं–

शब्द निरंतर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
उठत–बैठत कबहूं ना छूटे ऐसी तारी लागी।।

लेकिन यह कार्य पूर्ण गुरू के मिलने पर ही संभव हो पाता है। गुरूवाणी कहती है–

कहु नानक जिसु सतगुरू पूर।
बाजे तां कै अनहद तूर।।

व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ क्यों होना चाहता है?

हर व्यक्ति किसी ऐसी जगह की तलाश में रहता है जहां वह भागदौड़ की जिन्दगी से निकलकर पल दो पल के लिए चैन महसूस कर सके। अमन से रह सके। स्वयं को तनावरहित महसूस कर सके। अपने मन की दुविधा को किसी के साथ बांट सके। वह ऐसी जगह की तलाश में रहता है जहां वह अपनी मानसिक व्याधियों से निजात पा सके। उनका निराकरण कर सके। वह किसी ऐसे आश्रय की तलाश में रहता है जहां उसे सतत् आगे बढ़ने की शक्ति मिलती रहे। उसके जीवन को स्थायित्व मिल सके और जिसके सहारे निर्भय होकर वह अपना सारा व्यापार छोड़ सके। सारी इन्वेस्टमैंट कर सके। अपने भय को उसके समर्पित कर सके और वह शक्ति उसके जीवन, व्यापार और परिवार को लूटे नहीं बल्कि सुरक्षित रखे।

इसके साथ ही व्यक्ति हर समय परम् की तलाश करता है। सर्वोच्च को प्राप्त करना चाहता है। वह सापेक्ष संसार में रहता है, रिलेटिव संसार में वास करता है इसलिए वह हर चीज की अति प्राप्त करना चाहता है उसमें सर्वोत्तम होना चाहता है। धन चाहता है तो उसकी अति। मान चाहता है तो उसकी अति, वासना चाहता है तो उसकी अति, मन का सुख चाहता है तो उसकी अति अर्थात् अति को प्राप्त करना उसके स्वभाव का हिस्सा है। वह अपने से संबंधित हर कार्य में संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। वह परम् होना चाहता है। सुपरमैन बनना चाहता है ताकि उसका मुकाबला कोई न कर सके। उसका विरोध कोई न कर सके। इसलिए वह सर्वसमर्थ बनना चाहता है। वह सापेक्ष संसार से अलग होना चाहता है जहां उसके समान कोई न हो अर्थात् वह निरपेक्ष होना चाहता है, एबसोलूट होना चाहता है। परमात्मा बनना चाहता है उसके अन्दर यह इच्छा स्वत: ही भरी हुई है क्योंकि वह स्वयं खुदा के नूर की एक किरण है।

वह सर्वश्रेष्ठ (Transcendent) बनना चाहता है। वह अतिमन (Supermind) बनना चाहता है। वह निरपेक्ष (Absolute) होना चाहता है। वह अपना और अपने व्यापार का असीम विस्तार चाहता है वह असीम (Illimitable) होना चाहता है। वह अमर (Eternal) भी होना चाहता है क्योंकि वह जगह-2 अपने नाम की निशानियां छोड़ता चला जाता है। अपने खानदान और नाम को आगे बढ़ाने की लालसा उसके अन्दर स्वत: ही मौजूद है। यहां तक कि उच्च कोटि के संत भी अपना नाम इतिहास में दर्ज करवा जाना चाहते हैं। साधारण व्यक्ति का अहंकार छोटा है लेकिन साधु संतों का अहंकार बहुत बड़ा है। वे बड़े स्तर पर स्वयं को स्थापित करना चाहते हैं और कहते हैं कि अहंकार से छुटकारा पाओ। कोई महात्मा साहित्य के द्वारा तो कोई अपने वचनों के द्वारा स्वयं को संसार में छोड़ जाता है। स्वयं को आश्रम व डेरों के रूप में स्थापित कर जाता है। दूसरों को कहता है कि अहंकार का त्याग करो लेकिन क्या उसके अहंकार का त्याग हो पाता है।

यह संसार ब्रह्म यज्ञ है इसमें जो व्यक्ति जितनी बड़ी आहुति डालता है उसका अहंकार उतना ही बड़ा हो जाता है। उसका विस्तार उतना ही अधिक हो जाता है। वह उतना ही अधिक शक्तिमान हो जाता है। जो व्यक्ति इस यज्ञ में जितना अधिक समर्पित होता चला जाता है कुदरत उसके विस्तार का उतना ही अधिक प्रबंध कर देती है। जो स्वयं को जितना अधिक शून्य करता है परमात्मा उसके अन्दर से उतना ही अधिक प्रकट होता चला जाता है। उसका अहंकार परमात्मा का अहंकार बन जाता है और प्रकृति उस अहंकार के विस्तार में उसकी मदद करती है।

यह सारा खेल परमात्मा का खेल है। उसी की शक्ति नाना रूपों में आकर अटखेलियां कर रही है इसलिए इस खेल से बचने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि परमात्मा स्वयं स्वयं के साथ यह खेल खेल रहा है। हम उसके इस खेल में उसके छोटे अहंकार बनकर यह खेल खेलते चले जा रहे हैं। हमारे हाथ में कुछ नहीं है इसलिए समर्पित करते चले जाओ स्वयं को।

छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। जो व्यक्ति जितना अधिक संकुचित और स्वार्थी होकर चलेगा वह उतना ही अपने सर्वसामर्थ्य, अपनी आजादी, अपनी मुक्ति, अपनी अमरता, अपने परम से दूर जा गिरेगा। उसकी नाथ में प्रकृति की गुलामी का अंकुश हमेशा पड़ा रहेगा और वह सदा अपने भाग्य को कोसता रहेगा या फिर अपनी मजबूरी के लिए दूसरों को दोष देता रहेगा।

अहंकार का विकास चेतना का विकास है जिसमें व्यक्तिगत अहंकार की बलि देनी होगी, ईश्वरीय अहंकार में विकास करना होगा। वापिस मुड़ने का कोई रास्ता नहीं है। स्वयं के छोटे अहंकार को विसर्जित करो, परमात्मा के अहंकार में विलीन हो जाओ। स्वयं के कर्ता भाव से निजात पाओ। सौंप दो अपनी बागडोर अस्तित्व के हाथ में जहां आप अपनी सारी चिन्ताओं से मुक्त हो सकेंगे। सारे भय उस अस्तित्व को समर्पित होते चले जायेंगे। यह उस अति की तरफ हमारा पहला कदम होगा। अध्यात्म की तरफ हमारा पहला कदम होगा। विकास की प्रक्रिया में परम की अनुभूति में एक समय ऐसा आता है जब ईश्वरीय अहंकार से भी छुटकारा हो जाता है।

सतगुरू ऐसा व्यक्ति है जिसने इस यज्ञ में सबसे बड़ी आहुति दी है। जो शिष्य नहीं बन सकता है, वह गुरू कैसे बन सकता है? वह समर्पण की कला से वाकिफ कैसे हो सकता है? परन्तु शिष्य वही है जिसने अपना शीश (सिर) गुरू को समर्पित कर दिया है। यही सर्वस्व समर्पण है। शिष्य कहता है कि मैंने अपना सर्वस्व गुरू को भेंट कर दिया है लेकिन गुरू के सामने उसका सिर नहीं झुकता है। यह कैसा शिष्यत्व है? कैसा समर्पण है? इस जीवन में नहीं झुक पाओगे तो आगे झुकना होगा। विकास के इस क्रम में स्वयं की आहुति तो देनी ही होगी। चाहे घुट-2 कर दो या खुशी से। जितना अधिक समर्पण होगा, आपके अन्दर से उतनी ही अधिक परमात्मा की अभिव्यक्ति होगी।

सतगुरू ऐसा खूंटा है जिसने उस अति का स्वाद चखा है। जिसके पास उस अति के खजाने की चाबी है। उस अति का दुर्ग भेदने की कला है। जब इस अति के संसर्ग में हम आते हैं, उनकी सन्निधि को प्राप्त करते हैं तो हमारी तलाश समाप्त होती है और हम अपने आपको निर्भीक होकर उनके चरणों में समर्पित कर सकते हैं। आश्रय ले सकते हैं। अब आप स्वयं के कर्ता नहीं हैं बल्कि सतगुरू आपके हर कार्य को अपनी मौज के अनुसार पूर्ण करता है। बाहर की आंखें बंद हो जाती हैं और शिष्य अन्तर की आंखों से सतगुरू के इस खेल को देखता है। ऐसा अनुभव उतरने से अन्तर की हर हलचल थमने लगती है। शरीर, मन व आत्मा में शांति उतरने लगती है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के लिए भी प्ररेणा-स्रोत बन जाता है। उसका हर कार्य अन्तः प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान से निकलकर आता है।

मुक्ति का अर्थ एवं लक्ष्य

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज द्वारा दी गई शिक्षाएं एकदम अनोखी और व्यावहारिक शिक्षाएं हैं जो घर-परिवार, समाज, देश व संसार में शान्ति का मार्ग दिखाने में सक्ष्म हैं। जब भी कोई स्वतः संत आता है वह समय की जरूरत के अनुसार शिक्षाओं में कुछ परिवर्तन अवश्य करता है। वह समाज और समय की आत्मा को पहचानता है। ये पल-पल में अपना रूप बदलते रहते हैं। हर युग नए रूप में प्रकट होता है इसलिए उसकी आवश्यकताएं भी बदल जाती हैं। खान-पान, पहनावा, बोलचाल, व्यवहार सभी कुछ काल-चक्र की गति के साथ बदल जाते हैं। चेतना के विकास के साथ-2 उसकी बाहरी जरूरतें भी बदल जाती हैं। धर्म का आन्तरिक स्वरूप तो नहीं बदलता लेकिन उसका बाहरी चोला नए रूप धारण कर लेता है। एक बीज जो पौधे की आत्मा है उसे अपने आपको गति में रखने के लिए, अपने आपको जिन्दा रखने के लिए पौधे की भिन्न-2 अवस्थाओं में से होकर गुजरना होता है। उसे स्वयं को पाने के लिए अपने आपको मिटाना होता है। अपने स्वरूप में बदलाव लाना होता है। बीज की आयु छोटी होती है इसलिए हम जान पाते हैं कि उसने स्वयं को मिटाया नहीं है बल्कि स्वयं को मिटाकर अपनी जाति का उपकार किया है। यदि बीज की आयु युगों में हो तो हम यही कहेंगे कि बीज को स्वयं को मिटाकर क्या मिला? उसने व्यर्थ ही अपनी कुर्बानी दी क्योंकि हम बीज की लम्बी यात्रा के केवल एक छोटे से हिस्से को देख सकेंगे।

बीज के सामने स्वयं को मिटाने के अतिरिक्त कोई रास्ता भी नहीं है। यदि उसने स्वयं को बचाने की कोशिश की तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। उसकी जाति का विनाश अवश्यंभावी होगा। बीज की यात्रा में बीज से बीज तक का विकास है। पशु और पक्षियों की यात्रा भी

इस मायने में एक बीज से भिन्न नहीं है। इनका विकास शारीरिक विकास है लेकिन मनुष्य के विकास की कहानी युगों की कहानी है क्योंकि उसका विकास केवल शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक व आत्मिक है। आत्मा को अपना बीज रूप प्राप्त करने के लिए युगों और कालों की यात्रा करनी पड़ती है। उसे अत्यधिक बदलावों में से गुजरना पड़ता है। बीज, पशु, पक्षी जहां से शुरू होते हैं, अपना जीवन चक्र समाप्त होने पर वहीं आकर खत्म हो जाते हैं। इनमें चेतना का कोई विकास नहीं है लेकिन मनुष्य जहां पर खत्म होता है वहां से ही उसकी नई शुरूआत है, नई सीढ़ी, नया क्षितिज है, नया आसमान है। अनंत ऊंचाईयां, अनंत अंधकार की खाईयां भी उसके भावी जीवन की संभावनाएं हैं। यदि उसने स्वयं को अर्पण करने में तनिक भी संकोच दिखाया तो उसकी आत्मा का विकास धीमा पड़ जाएगा। उसकी मंजिल की दूरी बढ़ती चली जाएगी।

हर व्यक्ति चाहता है कि उसे अधिक से अधिक ज्ञान हो, उसके पास हर समस्या का समाधान हो। वह सर्व-समर्थ हो, उसके ऊपर किसी की गुलामी का अंकुश नहीं हो। इसका अर्थ यह है कि वह परमात्मा के स्तर तक पहुंच जाना चाहता है। वह हर झंझट से मुक्त हो जाना चाहता है लेकिन वह यह भी चाहता है कि उसकी मुक्ति ऐसी मुक्ति नहीं हो जहां पर जाकर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। वह यह भी नहीं चाहता कि मुक्ति धाम में जाकर एक पत्थर की तरह पड़ा रहे और कर्तव्यविमूढ़ हो जाए। उसकी सारी हलचल ही समाप्त हो जाए। संतमत ऐसी मुक्ति का पक्षधर नहीं है। मुक्ति के अन्दर मनुष्य की आत्मा का अनंत विकास होता है, इसके साथ-साथ दूसरे स्तर पर उसका अस्तित्व भी बना रहता है लेकिन वह अस्तित्व एक सीमित व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है बल्कि एक विशाल चेतना में समाया हुआ समर्थ व्यक्ति है जिसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इच्छा मात्र से ही कार्य होने लगते हैं। छोटा व्यक्तित्व विशाल व्यक्तित्व में परिणत हो गया है। विशाल रूप में समा गया है। एक गन्दा नाला बड़ी नदी में समा गया है जहां पर जाकर उसके शरीर

और गुणों को बड़ा रूप मिल गया है। उसकी ताकत बढ़ गई है। उसके अंदर नई ताजगी व शुद्धि आ गई है। फिर वह नदी और भी बड़ी दरिया में मिल गई है जहां पर उसने एक ताकतवर धारा का रूप ले लिया है और अंत में समुंद्र में मिलने पर उसका रूप विशाल से विशाल हो गया है। अब उसकी गहराई इतनी बढ़ गई है जो बिल्कुल शांत है उसमें कोई हलचल नहीं है लेकिन सतह पर आकर वही गतिमान भी है, ताकतवर भी है और आकाश में उड़ने के लिए तैयार भी है। सतह से उठकर बादल बनकर वह दूर-दूर जाकर वर्षा करता है और मुरझाई कलियों और प्यासे लोगों के जीवन में बहार ला देता है। जीवन का संचार करता है लेकिन जब यही लोग प्रकृति का दोहन करते हैं, उसका प्रदूषण करते हैं तो आंधी और तुफान बनकर विकराल रूप धारण कर लेता है और उनके संकल्प को पल में धराशायी कर देता है। मानव इस लीला को समझ नहीं पाता है और मूकदर्शक बनकर केवल देखता रह जाता है।

छोटे से नाले ने विशाल समुंद्र का शरीर धारण कर लिया है। एक व्यक्ति जो स्वयं तक सीमित था, उसका शरीर केवल उसका शरीर था, उसकी शादी हुई, उसका परिवार बना, अब पूरा परिवार उसका शरीर है परिवार के किसी भी सदस्य को दर्द होता है तो यह दर्द उसका अपना दर्द बन जाता है। अब उसी व्यक्ति को गांव का मुखिया बना दिया गया है। अब पूरा गांव उसका शरीर बन गया है। गांव की तरक्की उसकी तरक्की है। पूरे गांव के विकास में उसे अपने शरीर का विकास नजर आता है। अब वही व्यक्ति किसी राज्य या देश का राजा बन गया है तो उसका शरीर और भी बड़ा बन गया है तथा ताकतवर भी बन गया है। देश की उन्नति उसकी स्वयं की उन्नति है और यदि देश पर कोई संकट आता है तो उसे अपने ही देश रूपी शरीर पर संकट नजर आता है, वह उसकी रक्षा करने का हर संभव प्रयत्न करता है। यदि वह अपने प्रयत्न में ईमानदार है, अपने कर्तव्य को समझता है तो देश की रक्षा और आत्म-सम्मान के लिए अपने प्राणों की बलि देने में भी नहीं हिचकिचाता है। यह एक व्यक्तिगत शरीर की

चेतना का राष्ट्रीय चेतना में विकास है। इसी प्रकार एक आध्यात्मिक व्यक्ति की चेतना जब विश्व चेतना में समा जाती है तो वह विश्व स्वरूप बन जाती है। उसका रूप इतना विशाल हो जाता है कि जब कोई अंकुर फूटता है तो उसी का जन्म होता है, जब कोई छोटी या बड़ी हलचल होती है तो वह उसी का प्रकटीकरण है, उसी की अभिव्यक्ति है। मृत्यु और मृत्यु के बाद के जीवन का प्रस्फूटन उसी की चेतना का अंग है। सारी सृष्टि का जन्म उसी का जन्म है और सारी सृष्टि का प्रलय उसी चेतना का स्वयं के अन्दर विलय है जहां से पुनः एक नई ऊर्जा को लेकर सृष्टि की उत्पत्ति होती है और वही चेतना नए-2 रूपों में प्रकट होकर भी अरुप, निर्गुण और निराकार बनी रहती है। वह सभी रूपों के अन्दर है तो उन सब से अलग भी है जहां वह पराचेतना या पराप्रकृति बनकर उन सब का पोषण करती है। ब्रह्मरूप या सतगुरू रूप बनकर सृष्टि की संभाल करती है। संसार के सभी धर्म उसी की पैदायश हैं।

मुक्त व्यक्ति निष्क्रिय नहीं होता है बल्कि उसकी क्रियाशीलता और गतिशीलता इतनी बढ़ जाती है कि एक साधारण व्यक्ति उसकी चाल में चाल मिलाने में सक्षम नहीं होता है। साधारण व्यक्ति पीछे छूट जाता है और वह स्वयं की मन्द चाल को नहीं पहचानता है। अपनी कमी और निष्क्रियता को नहीं पहचानता है बल्कि उस समर्थ पुरूष की चाल को दोष देने लगता है। मुक्त व्यक्ति के लिए काल की गति कम पड़ जाती है। उसे थोड़े समय में बहुत लम्बा रास्ता तय करना होता है। उसका एक कदम दूसरे व्यक्तियों के हजारों कदमों से भी गतिमान है और ताकतवार भी। वह बहुत आगे निकल गया है और जो देखता है वही बोलता है जिसे वक्त का साधारण व्यक्ति नहीं समझ पाता है और उसे धर्म का दुश्मन समझने लगता है। कभी-2 उसे समाज और धर्म के ठेकेदारों के अत्यधिक कष्ट भी सहने पड़ते हैं। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद वही लोग उसकी पूजा करते हैं, समाधि स्थापित करते हैं और धर्म के नाम पर व्यापार करने लगते हैं।

अध्यात्म हर जरूरत की पूर्ति करता है

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि जो व्यक्ति परमात्मा को शरणागत हो जाता है परमात्मा की सत्ता में लीन हो जाता है, उसके अन्दर से परमात्मा स्वयं प्रकट होने लगता है ताकि उसकी अस्मिता को कोई भी ठेस न पहुंचा सके। प्रेमी साधक को यदि कोई दुःख पहुंचाता है तो उसकी चोट उसके हृदय में बैठे हृदय पुरूष के ऊपर पड़ती है। ऐसा साधक आपे में नहीं रहता, वह ब्रह्मलीन हो जाता है। सतगुरू स्वयं उसके सारे काम की रखवाली करता है। लेकिन जो व्यक्ति अपनी रक्षा और सुरक्षा के साधन जोड़ने में तल्लीन रहता है; एक, दो, तीन.....का निर्माण करने में व्यस्त रहता है उसके हृदय में अहंकार - पुरूष का वास होता है। ऐसा हृदय वासनाओं से भरा रहता है वहां परमात्मा की भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। वासनाओं का पात्र भरता रहता है और खाली होता रहता है। एक वासना टूटती है तो उसका स्थान दूसरी वासना ले लेती है लेकिन प्यार से भरा हुआ हृदय का पात्र कभी खाली नहीं होता। उसे जितना लुटाया जाता है वह उतना ही अधिक भरता जाता है और किनारे लांघ कर बहने लगता है। हमेशा लबालब भरा रहता है। उसकी रहमत और परिधि में यदि सारा संसार भी आ जाये तो वह भी तृप्त हो सकता है, फिर भी उसकी पूर्णता में कोई कमी नहीं आ सकती है।

बहुत से लोग कहते हैं कि परमात्मा अपने भक्तों को कष्ट देता है। उनकी परीक्षा लेता है। यह सही है कि सच्चाई का पौधा उगाने के लिए अपने स्वार्थों की बलि देनी पड़ती है लेकिन जब वह पौधा उग जाता है तो उसका विस्तार इतना लम्बा-चौड़ा होता है कि दूर-2 से आने वाले भूखे-प्यासे और थके हुए राहगीर उसकी छाया में बैठकर शान्ति का अनुभव करते हैं। वहां किसी वस्तु की कमी नहीं रहती है। यदि हमें विशाल साम्राज्य की स्थापना करनी है तो उसकी नींव उतनी ही मजबूत और सबल होनी चाहिए

वरना वह साम्राज्य अति शीघ्र चरमरा कर ढ़ह जाएगा। जब भी कोई अनोखा व्यक्तित्व संसार को मिला है उसके पीछे संघर्ष और समर्पण की कोई न कोई अनूठी मिशाल अवश्य होती है। ऐसा व्यक्ति युगों तक जीवित रहता है। उसके नाम के गीत युगों तक गाये जाते हैं। किसी भी व्यक्ति को यदि असाधारण व्यक्ति बनना है तो उसे असाधारण कार्य करने होंगे, उसे उस रास्ते से गुजरना होगा जिस पर साधारण जनमानस गुजरने में सक्ष्म नहीं है। हम कठिनाई को देखकर सतगुरू के पास जाकर रोने लग जाते हैं। अपने भाग्य को कोसने लग जाते हैं लेकिन असाधारण परिस्थितियों से गुजरने का अवसर परमात्मा किसी विरले को ही देता है और ऐसी परिस्थितियां ढूंढने के लिए हमें घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि प्यास है तो ऐसी परिस्थितियां हमें अपने आसपास के वातावरण में ही मिल जाती हैं। घर के अन्दर ही मिल जाती हैं। इसके लिए हमें दिल में विशालता लानी होगी। हृदय का दरवाजा खोलना होगा ताकि हृदय गुफा में बैठा हुआ हृदय पुरूष हृदय से बाहर आ सके और हमारे तन व मन पर अपना अधिकार कर सके तथा स्वयं की अभिव्यक्ति कर सके।

एक बार यदि हृदय पुरूष की मणि का आलोक हमारे अन्दर झलकारें मारने लगता है तो इहलोक की सम्पूर्ण सम्पदा हमारी तरफ स्वयं ही खिंचकर आने लगती है। असली परीक्षा का वक्त तब होता है जब मन, बुद्धि व धन बल से हम परिस्थितियों का चुनाव करने में सक्षम हो जाते हैं और अपने स्वार्थों को अधिक अहमियत देने लगते हैं तब यही हृदयपुरूष आज्ञाचक्र पर बैठकर हमें हर परिस्थिति में आवाज लगाने लगता है। आज्ञा देने लगता है। यदि हम उसकी आवाज को दबाने का प्रयत्न करते हैं तो हम अपने लिए और अपनी आगे आने वाली प्रणाली के लिए गुलामी का चयन करते हैं, परतंत्रता का चुनाव करते हैं। यह चुनाव हमें साधारण व्यक्ति से ऊपर उठने में मदद तो अवश्य करता है लेकिन पूर्ण स्वतंत्रता का रास्ता बंद हो जाता है और हमारी आत्मा की यात्रा अधोमुखी हो जाती है। असुर लोक की तरफ हो जाती है।

यह रास्ता असुरि रास्ता है, सांसारिक रास्ता है। संत मार्ग पर चलने के लिए आज्ञा पुरूष की आज्ञा का चुनाव करना होगा, उस पर चलने का प्रयत्न करना होगा। हमारी तरफ आने वाले हर प्रलोभन से दूर रहना होगा जो हमें आत्म मार्ग से विचलित करे। जिस व्यक्ति के अन्दर कुण्डलीनी शक्ति क्रियाशील हो जाती है, हृदय पुरूष या आज्ञा पुरूष गतिमान हो जाता है वह व्यक्ति अन्तर्मुखी हो जाता है या अध्ययनशील हो जाता है या कर्मयोगी बनकर अपने कार्य में पूरी तरह से लीन हो जाता है। संसार के जितने भी महान प्रशासक हुए हैं या भंयकर विनाशक हुए हैं, महान् वैज्ञानिक हुए हैं या बड़े से बड़े नास्तिक हुए हैं, क्रांतिकारी हुए हैं या शान्ति का दूत बनकर आए हैं यदि सभी के परिवारों की पृष्ठभूमि देखी जाए तो वहां अध्यात्म का बीज अवश्य ही मिलता है। आज्ञा पुरूष की चेतना की क्रियाशीलता अवश्य ही मिलती है। जब आत्मिक चेतना जागृत होती है तो सबसे पहले वह आजादी मांगती है, स्वतंत्र होना मांगती है, सर्व-समर्थ होना मांगती है, मुक्त होना मांगती है ताकि उसके ऊपर किसी की गुलामी का अंकुश न रहे और चेतना की ऐसी उन्नत अवस्था से जो भी पैदायश होगी या संतान जन्म लेगी वह संसार का विशेष व्यक्तित्व होगी, किसी की गुलामी करना उसके लिए कठिन होगा क्योंकि वह आज्ञा पुरूष की संतान है। यदि आत्मा की गति अधोमुखी है, वासनाओं से भरपूर है तो विनाशक और युद्ध उन्मादी व्यक्ति का जन्म होता है और यदि आत्मा की गति ऊपर की तरफ है और सबका भला करने का संकल्प है तो कुशल प्रशासक, संत, परम् संत और कला कौशल से पूरिपूर्ण आत्मा का अवतरण होता है जो संसार में आकर लोगों के दु:ख दूर करता है।

ओशो कहते हैं कि अध्यात्म सांसारिक दृष्टि से प्रयोजन शून्य है, अर्थहीन है। प्रेम प्रयोजन शून्य है, अर्थहीन है। अध्यात्म और प्रेम किसी को रोजी-रोटी नहीं दे सकते, सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। मेरे सतगुरू कहते थे कि नाम लेने के बाद यदि आप गरीब रहते

हैं तो धिक्कार है उस नाम को। सत्संग लेने के बाद यदि आपके पास बरकत नहीं आती तो छोड़ देना चाहिए उस सत्संग को। लेकिन जरूरी यह है कि नाम की कमाई होनी चाहिए। सत्संग का अर्थ अन्तर में झलकना चाहिए। वह परमात्मा सम्पूर्ण भण्डारों का स्वामी है, उसके प्यारे को कोई भी कष्ट हो वह सहन नहीं कर सकता है।

राधास्वामी योग और मुक्ति मार्ग

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि सुरत-शब्द योग की साधना किए बगैर न कोई मुक्ति में गया है और न ही जाएगा। क्या है यह सुरत-शब्द योग? सुरत आत्मा को कहते हैं और शब्द परमात्मा को। आत्मा और परमात्मा के योग को ही सुरत-शब्द योग या राधास्वामी योग कहा जाता है। राधा आत्मा का नाम है, स्वामी परमात्मा का।

आत्मा और परमात्मा के मिलने का योग तो सभी करते हैं लेकिन ऐसी क्या बात है कि सुरत-शब्द योग के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है? सुरत-शब्द योग साधना की तीसरी सीढ़ी है, तीसरी अवस्था है। पहली सीढ़ी वह है जब व्यक्ति अध्यात्म की तरफ आमुख होता है। प्रयत्नशील हो जाता है। संसार में रहते हुए या पूरी तरह से संसारी होते हुए भी परमात्मा के रास्ते पर चलना चाहता है। वह तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ, हवन-यज्ञ करता है और मन्दिर, मस्जिद, चर्च या गुरूद्वारे में जाकर अपने इष्ट के सामने अपने अहंकार का अर्पण करता है। वह बाहर की आंखों से ईश्वर के दर्शन करना चाहता है, लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि उसका मन स्थिर नहीं है, सांसारिक वस्तुएं उसके लिए अधिक महत्त्व रखती हैं। वह पल दो पल के लिए प्रार्थना करता है उसके बाद फिर सांसारिक कार्यो में लीन हो जाता है। उसकी प्रार्थना पूरे समर्पण के साथ नहीं होती है बल्कि अधूरे मन से होती है इसलिए प्रार्थना श्रद्धा नहीं बन पाती है। ऐसे व्यक्ति पदार्थ की प्राप्ति के लिए ये अनुष्ठान करते हैं जिनकी उन्हें प्राप्ति हो भी जाती है।

जब व्यक्ति दूसरी सीढ़ी पर चढ़ता है तब वह अन्तर्मुखी होने लगता है। बाहर की आंखों को बन्द करके अन्तर की तरफ मुड़ने लगता है। मन में स्थिरता आने लगती है। धन-दौलत या सांसारिक उपलब्धि के स्थान पर मानसिक सुख व आत्मिक शांति को अधिक महत्त्व देने लगता

है। नाम लेकर अभ्यास करना, सन्त–महात्माओं का सत्संग करना, तपस्या करना, आध्यात्मिक विषयों पर चिंतन–मनन करना, पवित्र जीवन जीना आदि कार्यों में व्यक्ति की रूचि बढ़ने लगती है। वह बाहर की बजाय अपने अन्तर में परमात्मा की खोज करने लगता है। प्राण या विचारों को स्थिर करने का साधन करने लगता है। साक्षी होकर हर कार्य को करता है। ध्यान में उतरने का प्रयत्न करता है। गुरू रूप या शून्य पर ध्यान करता है या साक्षी होकर विचारों को आते–जाते हुए व स्थिर होते हुए देखता है।

ध्यान में अपने इष्ट देव के रूप पर अन्तर्दृष्टी जमाता है या किसी आब्जेक्ट को ध्यान का केन्द्र बनाता है। कुछ मत तो विचार या शारीरिक शून्यता को ही ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं, कुछ मत ज्योति (प्रकाश) के प्रकट होने को ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं। इसमें भी कुछ मत ऐसे होते हैं जो दीपक की लौ को आत्मा का दर्शन मानते हैं। बिजली की चमक, सूर्य का प्रकाश, आकाश की बिजली, चांद, सितारों का दिखाई देना, जुगनु का चमकना, धुंआ सा दिखाई देना, बादलों का घूर्मण आदि दृष्यों का दृष्टिगोचर होना ध्यान की इस अवस्था का बोधक हैं।

जब अभ्यास बढ़ जाता है, भक्ति में मजबूती आ जाती है तब मन की वृति और अधिक एकाग्र हो जाती है तथा वह शक्ति बनकर दोनों आंखों के मध्य में घूमती हुई प्रकट होती है। सूदर्शन चक्र की तरह घूमती हुई, सर्प के मूण्ड की तरह फैलती व सिकुड़ती हुई, प्रकाश के बिन्दू में से फैलती हुई और उसी में सिमटती हुई ऐसे प्रतीत होती है जैसे सारी रचना के प्रसार और प्रलय का आधार यही शक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद ने इसे मृदयोलिप्तम् सुधान्तम् (मिट्टी में लिपटा हुआ सोना), पतंजली ऋषि ने इसे धर्ममेघ समाधि और विवेकानन्द ने इसे 'क्लाऊड आफ वरच्यू' कहा है क्योंकि आरम्भ में इस का रंग मैला होता है, बादलों जैसा होता है जिस पर अभ्यास की रगड़ लगने से सोने के रंग जैसी आभा प्रकट होने लगती है। अभ्यास पर आधारित मतों ने इसे ही कुण्डलीनी शक्ति का जागरण कहा है।

जब साधक ध्यान की तीसरी सीढ़ी पर चढ़ता है तो अभ्यास और भी निखरने लगता है। चित्त शक्ति नाद बनकर साधक के अन्दर गूंजने लगती है जिसे शास्त्रों ने अनहद नाद, नादब्रह्म, उद्गीत, प्रणव, वाणी, अक्षर, कलाम, कलमा–इलाही, नादाय आसमानी, वर्ड, लोगोस, शब्द आदि नामों से पुकारा है। यदि यह नाद दाहिने कान की तरफ से सुनाई देता है तो अति उत्तम है और यदि बाई तरफ से सुनाई देता है तो साधक को अपने विचारों में और आचार–व्यवहार में और अधिक पवित्रता लानी चाहिए। जब सांसारिक इच्छाओं को लेकर ध्यान में उतरा जाता है तो बाई तरफ का शब्द खुल जाता है जो वांछनीय नहीं है और आत्मा को अद्योगति प्रदान कर सकता है। असुर प्रवृति की तरफ ले जा सकता है। शास्त्र कहता है– विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवता: अर्थात् ब्राह्मण के दाहिने कान में देवताओं का निवास है। यही कारण है कि मल त्याग करते समय जनेऊ दांए कान पर ही धारण किया जाता है जो पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। सुरत–शब्द योग में आत्मा इसी शब्द के साथ योग करती हुई अपनी मंजिल की तरफ बढ़ती जाती है। इसी शब्द की बड़ाई करते हुए नानक साहब कहते हैं –

शब्द ही धरती शब्द ही आकाश,
शब्द ही शब्द भया प्रकाश।
सकली सृष्टि शब्द के पाछै,
नानक शब्द घटे घट आछै।।

सुरत–शब्द योग की साधना के लिए व्यक्ति को बाहर भागने की जरूरत नहीं है बल्कि स्वयं के अन्दर झांकने की जरूरत है। व्यक्ति का शरीर ही परमात्मा का मंदिर है जहां पल प्रतिपल खुदा की इबादत चलती रहती है, उसका कलमा बेहर्फ बनकर लगातार बांग देता रहता है। उसका नूर आत्मा के अन्दर झलकारे मारता रहता है। पलक झपकते ही नूर ही नूर बरसने लगता है। हिन्दू महात्माओं ने इसे ज्योति स्वरूप ब्रह्म या परम्ज्योति कहा है तो मुसलमान फकीरों ने नूर और ईसाई संतों ने इसे ईश्वरीय लाईट

(प्रकाश) कहकर पुकारा है। जो भी व्यक्ति साधना के शिखर पर गया उसका अनुभव आत्मा के नूर के अन्दर से होकर ही गुजरा। यही नूर जब अन्तर में सरिता बनकर बहने लगता है तो इसी के अन्दर से नाद फूटता है जिसे कोई नादब्रह्म कहता है तो कोई वर्ड, लोगोस और कोई कलमा ईलाही या नादाय आसमानी कहकर पुकारता है। यही अनुभव जो आत्मा की गहराई में जाकर सबके लिए एक है, सतह पर आकर अलग-2 रूपों में छिटक जाता है जिसे हम मेरा खुदा, मेरा भगवान, मेरा गुरू या मेरा गौड़ कहकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए आपस में लड़ते रहते हैं। जब व्यक्ति इस तीसरी सीढ़ी पर जाकर अर्थात् तीसरे स्तर की भक्ति में आरूढ़ हो जाता है, स्थित हो जाता है तभी धर्म के अन्दर उसकी स्थिति होती है और मुक्ति का अधिकारी बन पाता है।

राधास्वामी योग की श्रेष्ठता

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि सुरत-शब्द योग हाथी का पैर है जिसमें सभी मत मतान्तरों के पद्चिन्ह समा जाते हैं। यह योग साधारण योग नहीं है बल्कि गहन अभ्यास और उत्कृष्ट भक्ति के द्वारा ही साधक इसकी टोह ले सकता है।

विषय की दृष्टि से यदि देखा जाए तो वेदों को चार भागों में बांटा जा सकता है- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। पहले तीन भाग अर्थात् संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक कर्मकाण्ड से संबंधित हैं और चौथा भाग अर्थात् उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का संकलन है। पहले तीन भाग कर्मकाण्ड, यज्ञ व अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन करते हैं जबकि उपनिषद् ज्ञानकाण्ड प्रधान होने के कारण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग आदि विषयों का विशुद्ध वर्णन करते हैं।

सुरत-शब्द योग के बारे में कहा जा सकता है कि यदि उपनिषद् वेदों का ज्ञानकाण्ड है तो सुरत-शब्द योग उपनिषद् का ध्यान काण्ड है। तत्व की दृष्टि से विचार किया जाए तो उपनिषद् में दो मुख्य संदेश हैं - एक अद्वैत दर्शन और दूसरा नादब्रह्म। विभिन्न उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा की एकरूपता सिद्ध की गई है जैसे - तद् ब्रह्म स आत्मा (तैतिरीय उपनिषद्), अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद्), तत्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद्), अहं ब्रह्मास्मि (वृहदारण्यक उपनिषद्), प्रज्ञानं ब्रह्म, एको ब्रह्म द्वितीय नास्ति आदि वाक्य उपनिषद् के महावाक्य हैं।

उपनिषद् ने ओ३म् को नाद कहा है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी उपासना उद्गीत, अक्षर ब्रह्म या नादब्रह्म के रूप में की गई है। छान्दोग्य उपनिषद्, वृहदारण्यक, तैतिरीय, प्रश्नोपनिषद्, कठोपनिषद्, माण्डूक्य, अद्वयतारक, ध्यानबिंदू व अन्य उपनिषदों में इसका वर्णन स्पष्ट तौर पर किया गया है। नादबिंदू उपनिषद्, हंसोपनिषद् और हठयोग के शास्त्र हठयोग-प्रदीपिका में तो दस प्रकार के नादों का भी स्पष्ट विवरण मिलता है।

सुरत–शब्द योग उपनिषद् दर्शन के इन दोनों संदेशों को पूर्ण तौर पर आत्मसात करता है बल्कि यह योग दस प्रकार के नादों का पूर्ण रहस्य खोलता है जिसका कहीं पर भी वर्णन नहीं मिलता है।

इतना ऊंचा और विशुद्ध ज्ञान होने के बावजूद भी उपनिषद् दर्शन साधारण व्यक्ति तक नहीं पहुंच सका। इसके कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। एक तो यह ज्ञान संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध था जो साधारण व्यक्ति की भाषा नहीं थी। इसे समझने के लिए घरबार छोड़कर जंगल में जाना पड़ता था जहां गुरू के पास रहकर इस ज्ञान की प्राप्ति होती थी। दूसरा यह कि वैदिक ज्ञान समाज के सब व्यक्तियों के लिए उपलब्ध नहीं था। केवल अधिकारी व्यक्ति ही इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता था। इसमें जाति–पाति और वर्ण भेद का भी ख्याल रखा जाता था। शुद्र व्यक्ति वेद और उपनिषद् नहीं पढ़ सकता था। तीसरा यह कि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य साधन प्राणायाम था जो सबके लिए संभव नहीं था क्योंकि इसके लिए विशेष यम–नियमों का पालन करना पड़ता था और गुरू के पास रहकर ही इसका अभ्यास किया जा सकता था।

उपनिषद् काल के बाद महात्मा बुद्ध आए। उन्होंने लोगों को इन बाधाओं से मुक्त किया और आध्यात्मिक ज्ञान को उन्हीं की भाषा में उन तक पहुंचाया लेकिन उपनिषद् के गूढ़ सन्देश का लोप हो गया। शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धांत को फिर उठाया लेकिन वे भी ब्रह्म के नादरूप को नहीं खोल पाए। सूफी फकीरों ने इसका कुछ वर्णन किया लेकिन पूर्ण रहस्य से वंचित रहे। इसके बाद कबीर साहब ने आकर सुरत–शब्द योग के नाम से नाद योग का अनुसंधान किया जिसमें निर्गुण धारा का समागम किया, अद्वैत दर्शन जिसके अन्दर स्वयं ही पूर्ण अनुभव को लेकर समा गया। कबीर साहब ने जाति–पाति के भेद को समाप्त किया।

हम वासी उस देश के, जहं जाति बरण कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।

गूढ़ नाद रहस्य को सरल भाषा में लोगों तक पहुंचाया।

जाप मरै अजपा मरै, अनहद हूं मरि जाय।
सुरत समानी सबद में, तां को काल न खाय।।

इस सुरत–शब्द योग को सिद्ध करने के लिए प्राणायाम जैसे कठिन मार्ग की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि शरीर की मजबूती के लिए प्राणायाम एक उत्तम साधन है। इस मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए एकमात्र आवश्यकता प्रेम और भक्ति की है जो सहज ही सबके लिए सुलभ है। वे कहते हैं–

जोगी जंगम सेवड़ा, सन्यासी दरवेस।
बिना प्रेम पहुंचै नहीं, दुरलभ सतगुरू देस।।
पढ़ि पढ़ि पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो ईंट।
कबीर अंतर प्रेम की लगी न एकौ छींट।

कबीर अपने प्रीतम के प्यार में तड़फते हुए कहते हैं –

कै बिरहिन को मीचु दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मो पे सहा ना जाय।

कबीर अपने प्रभु से कहते हैं, कि या तो मुझे मौत दे दे या अपने दर्शन देकर मेरी व्याकुलता को शान्त कर, दिन–रात का ये दु:ख अब मुझसे सहा नहीं जाता है। अपनी आन्तरिक अवस्था का वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं–

हम उस देश के वासी हैं, जहं पारब्रह्म का खेल।
दिपक जरै अगम का, बिन बाती बिन तेल।।

सुरत–शब्द योग यद्यपि भक्ति मार्ग है लेकिन इस मार्ग में ध्यान की मुख्यता होने के कारण ज्ञान अंग की स्वयं ही पूर्णता हो जाती है। नित्य–अनित्य वस्तु के ज्ञान के लिए ध्यान अति आवश्यक है। विवेकख्याति प्राप्ति और असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिए पतंजली ऋषि ध्यान को ही योग का साधन बताते हैं। सुरत–शब्द योग में कर्म योग की महता को भी स्वीकार किया गया है। कर्मभूमि में रहते हुए ही राधास्वामी योग की पूर्णता सम्भव है। अत: राधास्वामी योग में सभी योग व मार्ग स्वत: ही पूर्ण हो जाते हैं।

गीता मार्ग और राधास्वामी योग में अन्तर

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते थे कि संसार में रहते हुए यदि हम मुक्त नहीं है तो मृत्यु के बाद की मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है और न ही यह संभव है।

जा को मुक्ति इत्त है वा को उत्त।
जा को इत्त नहीं वा को इत्त ना उत्त।।

दूसरी बात यह कहते थे कि सुरत-शब्द योग की साधना करने वाला व्यक्ति घर में रहकर हक की कमाई करता है, हक का अन्न खाता है और घर में रहकर ही भक्ति करता है। इसके लिए घरबार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

राधास्वामी योग की यह शिक्षा दूसरे मत-मतान्तरों से कुछ भिन्न हो गई है क्योंकि उनके अनुसार यह संसार दु:खों का घर है, एक सपना है जो देखते-देखते समाप्त हो जाएगा। वे कहते हैं कि यह संसार एक भ्रम है जब इस भ्रम से मुक्ति मिल जाती है तब जाकर आप अध्यात्म के मार्ग पर चलने के योग्य हो पाते हैं। इसके लिए या तो इस संसार का त्याग करना जरूरी है या कर्म-सन्यास जरूरी है लेकिन यदि आपको इसी संसार में रहते हुए आध्यात्मिक मार्ग पर चलना है तो उसके लिए शास्त्रों ने मनुष्य के लिए अनेक कर्मकाण्ड निश्चित किए हैं। तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ, हवन-यज्ञ आदि के अनुष्ठान आवश्यक बताए गए हैं ताकि आपकी वृति इस संसार के कार्यों में न लगे, आप मोह-माया में लिप्त न हो सकें।

जब धनुष्धारी अर्जुन अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ पाता है तो वह तीन लोक में गर्जन करने वाले गाण्डीव और इन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा देवताओं द्वारा भेंट किए गए महाविनाशक अस्त्रों को दूर रख देता है। सतोगुणी पांडव जो हर तरह के कर्मकाण्ड से वाकिफ़ थे, शास्त्रों के कहे अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करते थे लेकिन इस विकट परिस्थिति में विचलित हो गए थे और श्री कृष्ण से इस मोह-माया के संसार को

छोड़कर जाने की आज्ञा मांग रहे थे, कर्म से सन्यास लेना चाहते थे। लेकिन श्री कृष्ण ने कहा कि यह जो अब तक तुम कर रहे थे वह तीन गुणों की भक्ति है, गुणा गुणेषु वर्तन्ते अर्थात् यहां पर गुण गुणों में बरत रहे हैं। तमोगुण, रजोगुण और यहां तक कि सतोगुण भी उरला ही व्यवहार है इसलिए अर्जुन से कहते हैं कि हे अुर्जन! तीन गुणों से ऊपर उठो। संसार के सारे धर्म और व्यवहार सभी तीन गुणों की भक्ति है, परित्याज्य सर्व धर्मा। सब धर्मों का त्याग कर और मेरी शरण में आ जा। कर्म में रहते हुए हर कर्म को इस प्रकार कर कि तू इससे अछूता रहे, इसे करने के लिए तू केवल निमित्त मात्र है। हर कार्य परमात्मा की मर्जी से स्वयं ही हो रहा है, तेरे हाथ में कुछ भी नहीं है। तू केवल कर्म कर सकता है और जैसा कर्म करेगा उसका फल तुझे अवश्य मिलेगा। यह है सारगुण भक्ति।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को कर्मकाण्ड और कर्म-सन्यास दोनों से हटा दिया है और कर्मयोग को सबसे उत्तम कहा है। कर्मयोग ही सुरत-शब्द योग की कार्यशाला है, कर्म भूमि में रहकर पूरी तन्मयता के साथ कर्म करना ही योगी की सबसे पहली जरूरत है। ऐसा करते हुए मनुष्य संसार में प्रवृत नहीं होता है, वह अहंकार से अर्थात् स्वयं के कर्ताभाव से मुक्त हो जाता है और जब यह अनुभव मनुष्य के अन्दर पूरी तरह से उतर जाता है तो वह हर प्रकार के बंधन से मुक्त हो जाता है। वह जीवित मुक्ति को अनुभव करता है। यह मुक्ति यदि इस संसार में रहते हुए संभव नहीं है तो फिर दूसरा कोई संसार नहीं है जहां हमें मुक्ति मिल सकती है क्योंकि यदि हम जागृत अवस्था में तनावग्रस्त हैं तो स्वप्न में भी तनावग्रस्त ही रहेंगे। यदि जागृत में तनावमुक्त हैं तो हमारे स्वप्न भी दिव्य होंगे और हम गहरी निद्रा के आनन्द का पान कर सकेंगे।

गीता मार्ग सशक्त मार्ग है, सुदृढ़ मार्ग है लेकिन फिर भी यह हमें कुदरत की सूक्ष्म ताकतों की जंजीरों से मुक्त नहीं करता है। मनुष्य देवी-देवताओं की संतृष्टि के लिए कर्मकाण्डों में उलझा ही रहता है, वह हर समय विभाजित रहता है और जब तक ये कर्मकाण्ड रहेंगे व्यक्ति

पुरोहितों के शोषण का शिकार होता ही रहेगा। जबकि गीता में श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि देवी-देवताओं की पूजा करने वाले कर्मभोग वश उनके लोक में जाते हैं और कर्मभोग के बाद फिर उन्हें पुनः इस संसार में जन्म लेना पड़ता है। ऐसे भक्त मेरे अंश नहीं बनते, मेरी शरण में नहीं आ पाते। भटकते ही रहते हैं। वे अल्पबुद्धि और अविवेकी होते हैं। यह भगवद्गीता के सातवें व नौवें अध्याय में कहा गया है।

आत्मा मूल रूप से परमात्मा का अंश है इसलिए वह सभी देवी-देवताओं की भी पूजनीय है। उनसे श्रेष्ठ है इसीलिए आदम को बनाने के बाद ईश्वर ने शैतान (काल-महाराज) को आदेश दिया कि वह आदम को सिजदा करे लेकिन शैतान ने ऐसा नहीं किया। इसलिए उसे स्वर्ग से निष्कासित कर दिया गया। इस संसार में मनुष्य का सबसे निकट का रिश्ता उसके माता-पिता से है इसलिए मेरे सतगुरू कहते थे कि माता-पिता का दर्जा सभी देवी-देवताओं से ऊंचा है। वे कहते थे कि पिता घर का शंकर है और माता पार्वती। पिता आसमान के और माता पृथ्वी के सारे देवी-देवताओं से श्रेष्ठ है। वे कहते थे कि यदि घर का शंकर भूखा-प्यासा है और व्यक्ति मन्दिर में जाकर दूध चढ़ाता है तो ऐसा पुत्र नरक का अधिकारी होता है।

घर का शंकर मरे पियासा बाहर करे जलधारा।
ऐसा पुत्र नरक का वासी महादुष्ट हत्यारा।।

गीता और सुरत-शब्द योग में यही मौलिक अंतर है। सुरत-शब्द योग के अनुसार माता-पिता की सेवा करने से सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं। इस योग में सतगुरू का दर्जा परमात्मा से भी ऊंचा है क्योंकि सतगुरू उसकी सल्तनत में दाखिला दिलवाता है। रास्ते का भेद देता है, वह परमात्मा के अनहद शब्द का साक्षात रूप है अर्थात् शरीरधारी शब्द है। जो गुरू अन्तर के शब्द (अनहद नाद) का भेद नहीं बता सकता वह गुरू मुक्ति के मार्ग से अनभिज्ञ है। शब्द-भेदी सतगुरू के साथ प्रेम करने से आत्मा आदि शब्द के अन्दर समा जाती है और शब्दरूपी हो जाती है।

शब्द-रूप का साथ लेकर परमात्मा का सनातन अंश बन जाती है। परमात्मा के इस विशाल रूप में समाने के लिए मनुष्य का विशाल हृदय होना आवश्यक है और आज के इस स्वार्थी संसार में केवल विशाल हृदय व्यक्ति ही माता-पिता की सेवा कर सकता है। केवल ऐसा व्यक्ति ही रचना की हर आकृति या चेहरे में परमात्मा या सतगुरू के नूर का व्यावहारिक अनुभव कर सकता है। देवताओं की मूर्ति बनाकर पूजा करना आसान है लेकिन जीवित मनुष्य को देवता समझकर समर्पण करना बहुत ही कठिन है क्योंकि जीवित व्यक्ति बार-बार हमारे अहंकार को चोट पहुंचाता है, हमारी सहनशक्ति की परीक्षा लेता है जिससे मनुष्य के अन्दर श्रद्धा, समर्पण, दया और प्रेम का जन्म होता है जो परमार्थ के मार्ग में अति आवश्यक है और अहंकार का मर्दन करने के लिए जरूरी है। कठोर हृदय व्यक्ति के लिए ऐसा संभव नहीं है। कबीर साहब कहते हैं-

गुरू बेचारा क्या करे, हृदय भया कठोर।
नौनेजा पानी चढ़ा, पत्थर न भीजी कोर।।

कठोर हृदय व्यक्ति पत्थर की तरह कठोर होता है जो प्रेम से खाली होता है उस पत्थर की तरह जो पानी में डूबकर भी उसके प्रभाव से खाली रहता है।

सुरत-शब्द योग के योगी के लिए सब कुछ सतगुरू की मौज से होता है, वह सतगुरू के भाणे में जीता है। जब कोई चोट लगती है या दुःख आता है तो वह यही कहता है कि सतगुरू की यही मर्जी है, वे मेरी किसी कमी को निकालने के लिए ऐसा करते हैं। उसे केवल सतगुरू का सहारा होता है। जब उसे कष्ट होता है तो वह आंखें बंद कर लेता है और अपने अन्दर के नूरी सतगुरू की शरण में चला जाता है। अब नूरी सतगुरू को उसकी हर प्रकार से रक्षा करनी पड़ती है और एक समय ऐसा मनुष्य सतगुरू के शब्द रूप में समाकर उसी का रूप बन जाता है। ईश्वर के साम्राज्य का अधिकारी हो जाता है, उसका अंश बन जाता है। तीन गुणों से बाहर चला जाता है, सारगुण की भक्ति करता है और साधर्म मुक्ति का

भागी बन जाता है। जब हर व्यक्ति परमात्मा के इस रूप में समा जाएगा तभी इस पृथ्वी पर ईश्वर के साम्राज्य की स्थापना होगी, जिसका आधार केवल प्रेम होगा और प्रेम ही सतगुरू और ईश्वर की अभिव्यक्ति होगा, इसमें न तो घरबार छोड़ने की आवश्यकता है और न ही किसी पूजा-स्थान या तीर्थ पर भटकने की जरूरत है।

प्रेम हर मनुष्य के भीतर है और परमात्मा (सतगुरू) भी हर मनुष्य का आत्मरूप बनकर उसके अन्दर विराजमान है। आवश्यकता है प्रेम को जगाने की, अपनी आत्मा के अन्दर स्थित होने की और सबके अन्दर एक ही आत्मा के दर्शन करने की। आत्मा के अन्दर स्थित होने के लिए बाहरी गुरू की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा गुरू होना चाहिए जो रास्ते का भेदी हो, अन्दर के मानसिक (सूक्ष्म) संसार की व्याधियों व रूकावटों को जानता हो और हमारी प्रकृति व स्वभाव को देखकर रास्ता बताए। यदि गुरू शब्दभेदी नहीं है, केवल कथावाचक है, दस प्रकार के शब्द और अट्ठारह मंजिलों का जानकार नहीं है तो ऐसा गुरू अपने शिष्य को देवी-देवताओं तक की भक्ति में ही उलझाकर रखता है और उसका जीवन नष्ट कर देता है। गुरू स्वयं तीसरे व चौथे दर्जे की भक्ति में रस लेने वाला हो। भक्ति चार प्रकार की होती है। स्थलू, सूक्ष्म, नूरी और नादी भक्ति। स्थूल भक्ति में व्यक्ति हवन-यज्ञ, तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ में लगा रहता है। परमात्मा को अपने से बाहर ढूंढता है और बाहर के ही साधन अपनाता है। नवधा भक्ति स्थूल भक्ति का ही अंग है। सूक्ष्म भक्ति में व्यक्ति अन्तर्मुखी होने लगता है। अपने इष्ट या गुरू से उसका इतना लगाव हो जाता है कि वह ध्यान या स्वप्न में अपने इष्ट के दर्शन करने लगता है। उसे ही भगवान मानता है, यह मानसिक भक्ति है जिसमें व्यक्ति जिस चीज या विचार के साथ प्यार करता है वही उसके सपने या ध्यान में आने लगता है।

यह सत्य है कि सूक्ष्म भक्ति की प्राप्ति मन के एकाग्र होने पर ही होती है लेकिन साधक का यहीं पर रूक जाना उसे लाभ की बजाय हानि

की तरफ ले जा सकता है। वह अग्रणी व हठी हो सकता है और अपने इष्ट या गुरू के एक ईशारे पर अपनी जान तक कुर्बान कर सकता है। श्रद्धा मजबूत हो जाती है लेकिन ज्ञान अधूरा रहता है। वह नहीं जानता है कि जिसे वह भगवान समझता है वह दर्शन केवल उसके मन की भावना की पैदायश है। धर्म के ठेकेदार ऐसे लोगों का अपने स्वार्थ व राजनीति के लिए भरपूर प्रयोग करते हैं। तीसरे दर्जे की भक्ति नूरी भक्ति है जिसके अन्दर सूक्ष्म भक्ति को पार करने के बाद ही जाया जा सकता है। ऐसा नूर जिसके अन्दर से सारी सृष्टि, सारी कायनात, सारे पीर, पैगम्बर, अवतार, सारे शास्त्र अर्थात् जो भी आकार व रूप की रचना है, पैदा होती है। इसे ज्योतिस्वरूप ब्रह्म कहा गया है। चौथे दर्जे की भक्ति नादी भक्ति है जिसमें आत्मा अपने आदि स्वरूप (आदि शब्द) में समा जाती है। इसके बारे में बाईबल कहती है कि आदि में शब्द (वर्ड) था, शब्द खुदा के साथ था, शब्द ही खुदा था और इसी शब्द ने सारी सृष्टि की रचना की। आरम्भ में यह माना गया था कि जीसस शरीरधारी शब्द था। इसी प्रकार सतगुरू इसी आदि-शब्द का अवतार होते हैं, जो शब्द का भेद बताकर शिष्य को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। इसलिए मेरे सतगुरू कहते थे कि सुरत-शब्द योग के बिना न तो किसी की मुक्ति हुई है और न होगी। अत: सभी धर्मों व मनुष्य के लिए पृथ्वी पर शांतिपूर्ण सहवास के लिए परमात्मा के इस रूप और उच्चतम भक्ति के इस रहस्य को समझना आवश्यक है। यह रूप अरूप है जहां जाकर सारे रूप समा जाते हैं, यह रूप असीम है जहां जाकर मनुष्य की बनाई हुई सारी सीमाएं विलीन हो जाती है, यह रूप अपरिमित है जहां पर जाकर मनुष्य की बुद्धि द्वारा बनाए गए सारे माप-तोल समाप्त हो जाते हैं। जब इस रूप का अनुभव होता है तो यह संसार दु:खों का घर नजर नहीं आता। भ्रम, माया और जंजाल नजर नहीं आता बल्कि कण-2 और रोम-2 में एक ही ईश्वर के दर्शन होते हैं और यह सृष्टि परमात्मा की योजना का एक हिस्सा नजर आती है।

राधास्वामी।

जिज्ञासुओं के लिए प्रश्न

- क्या धर्म रोजी-रोटी दे सकता है?
- क्या अध्यात्म से दु:खों का छुटकारा हो सकता है?
- क्या अध्यात्म धन और आश्रमों का मोहताज हो गया है?
- क्या सत्संग केवल धन कमाने का साधन बन गया है?
- क्या धर्म देश और समाज को सुरक्षा दे सकता है?
- क्या धर्म बिखरे व्यक्तित्व और समाज को जोड़ सकता है?
- क्या परमात्मा अमीर लोगों की धरोहर बन गया है?
- अध्यात्म क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है?
- क्या अध्यात्म, विज्ञान और संसार एक दूसरे के विरोधी हैं?
- क्या शरीर, मन व आत्मा अलग-अलग हैं?
- कुण्डलीनी जागरण क्या है?
- अनहद शब्द व धुन में क्या अन्तर है?
- परम्परावादी और आत्मनिष्ठ धर्म में क्या अन्तर है?
- कर्मकाण्ड बन्धन व दु:ख का कारण क्यों बन जाता है?
- सभी धर्मों की उत्पत्ति मानसिक संसार से है, कैसे?
- अच्छी संगत से बुरे कर्म कैसे कट जाते हैं?
- सतगुरू सूली का दर्द सूल में कैसे बदल देता है?
- सिद्ध पुरूष की इच्छा शक्ति मजबूत क्यों हो जाती है?
- सृष्टि की प्रलय व शरीर की मृत्यु का क्या सम्बन्ध है?
- अभ्यास की अट्ठारह मंजिलें कौन सी हैं?
- क्या भाग्य को बदला जा सकता है?
- क्या मन व अंहकार वास्तव में बुरे हैं?
- अध्यात्म के लिए विशाल दृष्टि जरूरी क्यों?
- सुरत-शब्द योग का मार्मिक रहस्य क्या है?
- व्यक्तिगत अस्तित्व व ब्रह्माण्ड में कितनी समानता है?
- ध्यान से समस्याओं का समाधान कैसे मिलता है?
- ध्यान से संसार का विनाश भी हो सकता है, कैसे?
- प्रेतात्मा व देवात्मा के प्रकट होने का कारण व अर्थ
- उत्पत्ति व प्रलय का वैज्ञानिक व अध्यात्मिक आधार क्या है?
- नाम व ध्यान का विज्ञान क्या है?
- कामधेनू गाय व कल्ववृक्ष की प्राप्ति क्या है?
- असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कैसे हो?

.....इत्यादि प्रश्नों के उत्तर जानिऐ?

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र

पुस्तक सूची

1. सतगुरू ताराचन्द जी महाराज के 101 अनमोल रत्न
2. रूहानी पत्र व सतगुरू आदेश
3. आत्मिक सफर और रूहानी मंजिलें (प्रश्नोतरी)
4. संत अवतरण
5. सम्यक समाधि : आत्मिक सफर की कहानी
6. पुरूष-प्रकृति
7. ईसा-मसीह कौन हैं?
8. युद्ध और जीवन दर्शन
9. अवतार अवतरण रहस्य
10. अध्यात्म से इच्छा शक्ति मजबूत कैसे होती है?
11. प्रेम और भक्ति का शिखर
12. सत्य और धर्म का अनुभव क्या इसी जन्म में संभव है?
13. टूटते रिश्ते बढ़ता अंधविश्वास व अध्यात्म
14. बच्चों पर सत्संग का प्रभाव
15. विश्व की समस्याएं और आध्यात्मिक समाधान
16. पृथ्वी पर ईश्वर का साम्राज्य
17. क्या धर्म, विज्ञान और संसार अलग-अलग हैं?
18. मनुष्य के लिए अध्यात्म जरूरी क्यों ?
19. आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य